अमर जैन साहित्य संस्थान का १४ वाँ रत्न

पुस्तक भगवान् महावीर के हजार उपदेश

सम्पादक गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

संयोजक जिनेन्द्र मुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ

प्रेरक : प्रवीण मुनि

विषय . जैनागम की १००१ सूक्तियाँ

प्रकाशक राजेन्द्रकुमार महेता
मंत्री . अमर जैन साहित्य संस्थान
कोरपोल, बडा बाजार, उदयपुर (राज०)

प्रथम प्रकाशन जुलाई १९७३, आषाढीपूर्णिमा वि० सं० २०३०

मूल्य नौ रुपये मात्र

मुद्रण व्यवस्था : संजय साहित्य संगम, आगरा

मुद्रक राष्ट्रीय आर्ट प्रिंटर्स,
मोतीलाल नेहरू रोड, आगरा-३

जिनके सत्साहित्य के पठन से
चिन्तन-मनन तथा लेखन-प्रेरणा का प्रकाश मिलता रहा है,
उन्हीं साहित्यवारिधि, महामनीषि–
परम श्रद्धेय राष्ट्र संत उपाध्याय श्री अमरमुनि जी म. सा के
कर कमलो मे
अपार श्रद्धा के साथ··· !

—गणेश मुनि

प्रस्तुत पुस्तक में सहयोग दाता

शा० थावरचन्द्र कन्हैयालाल ठाकरगोता
गुरलीवाले, वसई जिला थाणा (महाराष्ट्र)

प्रस्तावना

सुभाषित एव नीतिवचनो के महान् सर्जक श्री भर्तृहरि ने कहा है—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नान न विलेपन न कुसुमं नालकृता मूर्धजा ,
वाण्येका समलकरोति पुरुषं या सस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सतत वाग्भूषणं भूषणम् ।"

मनुष्य को न कपूर, न चन्द्रहार, न स्नान, न विलेपन, न पुष्प और न सुन्दर केशविन्यास ही विभूषित कर पाता है, अपितु एकमात्र सस्कृत-वाणी ही उसके मनुष्यत्व को अलकृत करती है । और सब अलकार क्षीण एव प्रभाहीन हो जाते हैं, किन्तु वाणी का अलकार कभी भी क्षीण एव निष्प्रभ नही होता, वस्तुत वाणी का भूषण ही भूषण है, अलकार है ।

भर्तृहरि का यह कथन सत्य की तुला पर शतप्रतिशत सही उतरता है । एक भी सदुक्ति, एक भी सुवचन जीवन को इतना महिमामय बना देती है कि मानव इतिहास के पृष्ठो पर अजर अमर हो जाता है । महान आत्माओ के, सन्त पुरुषो के हृदय के अन्तरतम से निकला हुआ एक भी सुभाषित वचन, सघन अन्धकार से आच्छिन्न मानव-हृदय मे वह आलोक भर देता है कि जीवन की धारा ही वदल जाती है । पापी से पापी, दुराचारी से दुराचारी व्यक्ति भी सहसा जो महर्षि के पद पर पहुँच पाया है, उसकी पृष्ठभूमि मे सद्गुरु का वह ऐसा कोई ज्योतिर्मय वचन ही रहा है, जिसने उनके जीवन की काया पलट करदी । महर्षि वाल्मीकि के जीवन को ऐसे ही किसी वचन ने प्रबुद्ध कर दिया था कि डाकू रत्नाकर मे से महर्षि की आत्मा जाग उठी । दस्युराज अगुलिमाल को तथागत बुद्ध की सुभाषित वाणी ने ही क्या से क्या वना दिया था । मगध का कुख्यात तस्करराज रोहिणेय तीर्थङ्कर महावीर के एक वचन श्रवण मात्र से ही जीवन की अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर सका था, जिसका यह परिणाम आया कि उसके प्राणो के ग्राहक वने श्रेणिक जैसे सम्राटो के रत्नमुकुट उस महर्षि के चरणो मे झुक गये । उत्तर कालीन सन्त साहित्य मे तो इस प्रकार के अगणित उल्लेख दृग्गोचर होते ही हैं ।

मानव ऐश्वर्य की खोज भौतिक सम्पत्ति मे करता है, वह रत्न-मणि-माणिक्य की तलाश मे अपने जीवन के मूल्यवान वर्षों को गला देता है, किन्तु

उसे यह पता नही कि उक्त जड रत्नो का क्या मूल्य है ? उनका क्या ऐश्वर्य है ? जीवन की क्षणिक आवश्यकताओ की पूर्ति के अतिरिक्त उनसे क्या होना जाना है ? वस्तुत यदि गहराई से देखा जाय तो इस पृथ्वी पर एक लोक चिंतक की भाषा मे तीन ही रत्न हैं–जल, अन्न और सुभाषित वाणी ।

पृथिव्या त्रीणि रत्नानि जलमन्न सुभाषितम् ।
मूढै पाषाणखण्डेषु रत्न सज्ञा विधीयते ।

महाकवि के शब्दो मे और जरा गहरा उतरें तो जल और अन्न केवल भौतिक तृप्ति के लिए, और वह भी क्षणिक तृप्ति के लिए ही है, किन्तु जीवन की सही समस्याओ का समाधान तो एकमात्र सुभाषित मे ही मिलता है। एक जन्म ही नही, किन्तु जन्म-जन्मान्तरो तक की समस्या का समाधान सुभाषित वाणी मे ही मिल पाता है ।

जैन आगम साहित्य एक विशाल ज्ञान सागर हैं, सुवचनो का एक अक्षय कोष है। आगमो मे अनेक प्रकार की सैद्धान्तिक चर्चाएँ उपलब्ध होती हैं, विद्वान मनीषी उन पर काफी लम्बी-चौडी चर्चा-विचर्चाएँ भी करते हैं, किन्तु कभी-कभी यह चर्चाएँ इतनी नीरस हो जाती हैं कि भावुक श्रोता का अन्तर-मानस ऊबने लग जाता है, किन्तु उन नीरस सैद्धान्तिक चर्चाओ के बीच आगम साहित्य मे हजारो हजार सुभाषित रत्न कणिकाएँ भी बिखरी हुई उपलब्ध होती हैं। एक-एक वचन इतना सुन्दर एव गम्भीर होता है, इतना प्रेरणाप्रद एव प्रकाशमय होता है कि साधक के सम्पूर्ण जीवन का वह संवल बन जाता है। साधक के दुख मे, सुख मे, यश मे, अपयश मे, हानि मे, लाभ मे, जीवन मे और मरण मे अर्थात् जीवन के विभिन्न द्वन्द्वो मे यदि कोई सहारा उसे मिल सकता है, और जीवन पथ का सही रूप परिलक्षित हो सकता है तो इन्हीं सुभाषित वचनो मे। देखिए एक-एक वचन मे कितना गहरा सकेत छिपा है—

कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं ।

कामनाओ को दूर करो, दुख दूर हो जायेंगे ।

एगे चरेज्ज धम्मं ।

भले ही कोई साथ चले या नही, धर्म पथ पर अकेले ही चलते रहो ।

छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं ।

इच्छा को निरोध करना ही वास्तव मे मोक्ष है ।

तुम मेव तुम मित्त !

आत्मन् ! तू ही मेरा मित्र है,

कहना नही होगा, हजारो वर्ष की यात्रा करने पर भी ये वचन आज भी इतने ही ज्योतिर्मय हैं, जितने कि अतीत मे थे । और यह उनकी ज्योति हजारो वर्ष तक जीवन को इसी प्रकार ज्योतित करती रहेगी । यह आभा कभी धुधली होने वाली नही है ।

भगवान् महावीर का पच्चीस सौवाँ निर्वाण महोत्सव सन्निकट आ रहा है । इस पुण्यस्मृति मे अनेक ग्रन्थ, ग्रन्थ ही क्या ग्रन्थराज लिखे जा रहे हैं और प्रकाशन की प्रतीक्षा मे हैं । इसी शृङ्खला मे श्री गणेश मुनिजी शास्त्री ने भी एक श्रद्धापुष्प समर्पित किया है, उस महामहिम परमपिता के श्री चरणो मे । आगम साहित्य मे विकीर्ण भगवान महावीर के सुभाषित वचनो का यह सुन्दर सकलन उपस्थित किया है उन्होने । मैं कह सकता हूँ कि मुनिजी का यह सग्रह सुन्दर एव जीवनोपयोगी है । महावीर की दिव्य वाणी के दर्शन आज भी हमे इन सुभाषित वचनो मे हो जाते है ।

वर्तमान जन-जीवन मे जो कुठाए हैं, द्वन्द्वात्मक स्थितियाँ हैं, नीति-अनीति के सघर्ष है, उनमे यह सुभाषित सग्रह आज भी एक प्रेरणा व ज्योति प्रदान करेगा । जन-जीवन के निर्माण मे मानसिक शान्ति एव समता की उपलब्धि मे यह सग्रह काफी सहायक सिद्ध हो सकता है ।

श्री गणेश मुनि जी एक सरल, शान्त, भावनाशील एव युवकोचित उत्साह से युक्त श्रमण हैं । कविता, लेखन एव प्रवचन तीनो ही धाराओ मे उनकी अच्छी गति है । उन्होने पहले भी कुछ अच्छी रचनाएँ जनसाहित्य के रूप मे प्रस्तुत की हैं, जिनका यत्र-तत्र-सर्वत्र आदर हुआ है । प्रस्तुत सग्रह कृति के साथ उन्होने इस दिशा मे एक और भव्य चरण आगे बढाया है । मैं मुनिश्री के मगलमय भविष्य की कामना करता हूँ कि वे इस प्रकार की साहित्य-साधना के क्षेत्र मे अधिकाधिक यशस्वी होगे एव प्रभु महावीर के शासन की गरिमा को अधिकाधिक दीप्तिमान करेंगे ।

जैन भवन, —**उपाध्याय अमर मुनि**

आगरा

२१-६-७३

अपनी बात

भगवान महावीर ने कहा है—

"उद्देसो पासगस्स नत्थि"

जो स्वय द्रष्टा है, उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नही होती। प्रश्न हो सकता है फिर ये वडे-वडे शास्त्र, हजारो ग्रन्थ और लाखो पेजो मे भरी शिक्षाएँ किसलिए ? क्यो ? और फिर नये-नये शिक्षा ग्रन्थ तैयार क्यो हो रहे हैं ?

स्पष्ट है कि विवेकी को, द्रष्टा को, ज्ञानी को उपदेश की जरूरत नही, किन्तु आज मनुष्य का विवेक जागृत कहाँ है ? उसकी आँखे कहाँ खुली है ? उसका ज्ञान कहाँ उजागर है ? आँखे होते हुए भी वह अधो की तरह आचरण कर रहा है ? उसका विवेक एव ज्ञान सुप्त है, मोह के सघन आवरणो मे दवा हुआ है जैसे घने वादलो के पीछे सूर्य का प्रकाश। उस सुप्त विवेक को जगाने के लिए, मोह आवरण को हटाने के लिए और आँख मूंदकर वैठे मनुष्य की दृष्टि उघाडने तथा उसके द्रष्टा रूप को प्रकट करने के लिए ही महापुरुपो के उपदेश, शिक्षा एव सुवचनो की आवश्यकता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है—

प्रवोधाय, विवेकाय, हिताय प्रशमाय च।
सम्यक् तत्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते।

मनुष्य के अन्तर हृदय को जगाने के लिए, सत्य-असत्य का विवेक व्यक्त करने के लिए, लोक-कल्याण के लिए, विकारो एव मोह को दूर करने के लिए तथा सम्यक् तत्व की जानकारी के लिए सत्पुरुपो की सूक्ति एव उपदेश का प्रवर्तन होता है। यही वात शव्दान्तर से महर्षिवशिष्ट ने स्वीकार की है—

अतिमोहापहारिण्य सूक्तयो हि महीयसाम्।

महापुरुषो के वचन मोह को दूर करने वाले होते हैं।

भगवान महावीर के उपदेश, वीतराग के उपदेश हैं, सत्य द्रष्टा की वाणी

है, उनमे वह अमोघ शक्ति है, प्रभावशीलता है कि जो उनका श्रवण करे मनन-चिंतन करें उन पर विश्वासपूर्वक आचरण करे उसकी सुप्त चेतना प्रबुद्ध हो सकती है, उसके अन्तरग पटल पर छाये मोह-आवरण हट सकते हैं, और विवेक का दिव्य प्रकाश जगमगा सकता है। उनके उपदेश की वह पवित्र मदाकिनी जिधर से भी वह जाती है, उधर ही भव-भव का ताप-सताप विलय होकर शीतलता छा जाती है। मानव अपने देवत्व को प्राप्त कर सकता है महावीर के उपदेशो का अनुसरण कर। महावीर के उपदेश एक पारस है, जिनका स्पर्श पाकर मानव मन धर्म की मजुल स्वर्णाभा से युक्त हो सकता है।

भगवान महावीर को आज ढाई हजार वर्ष बीत चुके हैं, जिस युग मे, जिन परिस्थितियो मे उनका अवतरण हुआ था वे आज से बहुत भिन्न रही होगी, इसलिए सम्भव है उनके उपदेशो मे सामयिक समस्याओ का समाधान भी रहे पर उस ढाई हजार वर्ष पुरानी वाणी को हम पुरानी कहे तो उपयुक्त नही होगा। पुरानी होकर भी उसमे पुरानापन नही है, बासीपन नही है। यह अमर सत्य है कि महापुरुषो की वाणी मे जीवन का शास्वत स्वर गूंजता रहता है। देशकाल की परिधि से मुक्त, वह चिरतन सत्य की दिव्यता से युक्त होती है। तीर्थंकर त्रिकाल-सत्य के द्रष्टा होते हैं अत उनका उपदेश कालातीत, शास्वत माधुर्य और चिरतन ताजगी-स्फूर्ति लिए होता है। उनके उपदेशो मे जो स्फूर्ति, प्रेरणा और जीवन-स्पर्शिता ढाई हजार वर्ष पूर्व थी वह आज भी है। यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। **नहि कस्तूरिकागंध. शपथेनानुभाव्यते**—कस्तूरी की सुगन्ध बताने के लिए सौगन्ध खाने की क्या जरूरत ? भगवान महावीर के उपदेशो की उपयोगिता और महत्ता बताने के लिए शब्द विस्तार की क्या अपेक्षा है ? वे स्वय ही अपनी उपयोगिता के जीवत प्रमाण हैं। उनका एक वचन भी जीवन को उच्चता एव श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँचा सकता है।

प्रस्तुत "भगवान महावीर के हजार उपदेश" मे प्रभु की वाणीरूप क्षीर समुद्र मे से एक हजार वचन उर्मियाँ सकलित की गई है। मेरा विचार तो था—पच्चीस वी निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य मे भगवान महावीर के पच्चीस

सौ उपदेश वचनो का एक सकलन तैयार किया जाय, इस दिशा मे चिन्तन भी किया, किन्तु लगा २५०० उपदेशो का सग्रह विशालकाय ग्रन्थ का रूप ले लेगा जो जन साधारण के लिए कम उपयोगी रहेगा, दूसरी बात उपदेश वचनो को तोड-तोड कर छोटा करना होगा अथवा कुछ गम्भीर व जटिल विषयो को भी साथ मे समाविष्ट करना होगा जिससे ग्रन्थ की गुरुता, गरिष्ठता बढ जायेगी और जनोपयोगिता कुछ कम हो जायगी। इस विचार से पच्चीससौ उपदेशो के स्थान पर एक हजार उपदेशो का सकलन प्रस्तुत करने का विचार स्थिर किया, यदि समय व साधनो की सुविधा रही तो इस चरण को और भी आगे बढाने का प्रयत्न किया जायेगा।

इन उपदेश वचनो को तीन खण्डो मे विभक्त किया है। प्रथम खण्ड मे धर्म और दर्शन से सम्बन्धित १८ विषय है, जिनमे ३८२ सूक्तियाँ है। दूसरे खण्ड मे जीवन और कला शीर्षक से २३ विषय लिये गये हैं जिनमे ३५३ उपदेश वचन सग्रहीत किये हैं। तृतीय खण्ड मे शिक्षा और व्यवहार शीर्षक के अन्तर्गत १५ विषय हैं जिनमे २६६ उपदेश सूक्त हैं। यो कुल ५६ विषयो मे एक हजार एक उपदेश वचनो का सकलन किया गया है। इस सकलन मे मूल आगमो को ही मुख्य आधार माना गया है, चूंकि वर्तमान मान्यता के अनुसार मूल आगमो मे महावीर की वाणी आज भी सुरक्षित है।

सूक्तियो का चयन करते समय प्राय मूल आगम देखे हैं और अनुवाद करते समय पूर्वापर भावो का सम्बन्ध भी ध्यान मे रखा गया है। आशा है पाठको को इस सकलन मे प्रामाणिक रूप से भगवान महावीर के उपदेशो से साक्षात्कार करने का अवसर मिलेगा।

मेरे आध्यात्मिक एव साहित्यिक जीवन के प्रेरणा-स्तम्भ राजस्थानकेसरी गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी म० सा० का पुनीत स्मरण इस प्रसंग पर स्वय हो आता है। मेरा जो कुछ कृतित्व है वह उन्ही के आशीर्वाद का फल है। गुरु भ्राता आदरणीय श्री हीरामुनि जी 'हिमकर' एव समर्थ साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनि जी का स्नेह, प्रेरणा एव मार्गदर्शन मुझे निरन्तर आगे बढाते रहे हैं।

मेरे निकटतम सहयोगी श्री जिनेन्द्र मुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ का जो

हार्दिक सहकार और सप्रेरणा प्राप्त होती रही है, उसे वाणी का विषय बनाकर औपचारिकता दिखाना ठीक नही होगा। वे मेरी प्रत्येक साहित्यिक-सर्जना के सहयोगी रहते हैं और इस भगीरथ कार्य मे भी अपनी योग्य भूमिका इन्होंने निवाही है। मेरे आत्मीय श्री प्रवीण मुनिजी की प्रेरणा इस सकलन के लिए सतत मुझे प्रेरित करती रही है, अत उनका स्मरण स्वत ही हो जाता है।

इस सकलन की मूल प्रेरणा स्नेही श्री श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' से प्राप्त हुई। अत इस ग्रन्थ की पूर्ति मे उनका स्नेह सहकार बराबर याद करता रहा हूँ।

श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमर चन्द्रजी म० ने मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर ग्रन्थ पर प्रस्तावना के रूप मे दो शब्द लिखने की जो स्नेह पूर्ण उदारता दिखाई है, उसके लिए मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

आशा करता हूँ यह महत्वपूर्ण सकलन पाठको के लिए उपयोगी होगा एव भगवान महावीर की २५ वी निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य मे प्रभु महावीर के प्रति मेरा एक श्रद्धा सुमन !

जैनधर्म स्थानक **—गणेश मुनि शास्त्री**

वागपुरा (राजस्थान)

१–६–७३

प्रकाशकीय

भगवान महावीर की २५ वी निर्वाण शताब्दी का प्रसग जैन समाज के लिए एक ऐतिहासिक प्रसग है। इस प्रसग पर भगवान महावीर एव जैन धर्म से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण समारोह, कार्यक्रम एव साहित्य-प्रकाशन की योजनाएँ मूर्त रूप ले रही है, यदि सम्पूर्ण जैन समाज तन-मन-धन से एकजुट होकर इस कार्य को आगे वढाये तो सचमुच ही विश्व का वातावरण वदल सकता है और अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियो से गौरव मे अभिवृद्धि हो सकती है।

भगवान महावीर निर्वाण शताब्दी समारोह मनाने के लिए प्रान्तीय एव अखिलराष्ट्रीय स्तर पर अनेक समितियाँ कार्य कर रही हैं। दिल्ली कि अखिल भारतीय समिति ने पिछले दिनो एक कार्यक्रम प्रसारित किया था जिसमे आयोजन से सम्बन्धित अनेक योजनाएँ भी थी उनमे एक महत्वपूर्ण योजना थी भगवान महावीर व जैन आगमो की सूक्तियो का सकलन-प्रकाशन।

भगवान महावीर की सूक्तियो से सम्बन्धित गत कुछ वर्षों मे अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। जब से सूक्तियो का प्रचार लोकप्रिय हुआ है, इस दिशा मे अनेक विद्वान मनीषियो ने कार्य किया है। महावीर-वाणी, महावीर वचनामृत, आर्हत प्रवचन के अतिरिक्त एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व मौलिक-सकलन राष्ट्रसत उपाध्याय श्री अमर मुनि जी ने प्रस्तुत किया है—सूक्ति त्रिवेणी। यह सकलन अपने स्तर का एक विशिष्ट व वेजोड सकलन कहा जा सकता है।

सूक्ति साहित्य की इसी सुमन-माला मे प्रस्तुत पुस्तक—'भगवान महावीर के हजार उपदेश' एक नवीनतम सुरभित सुमन गिना जा सकता है। कई दृष्टियों से इस सकलन की अपनी मौलिकता भी है। आगमो के अव तक अप्रयुक्त ऐसे अनेक महत्वपूर्ण सन्दर्भ व गाथाएँ इस सग्रह मे मिलेंगी जो पहली वार सग्रहीत की गई हैं। सकलन का विषय वर्गीकरण भी नवीन दृष्टि से किया गया है और अनुवाद की भाषा भी वडी सरल और भावग्राही है।

इस सकलन के सपादक हैं—श्री गणेश मुनि जी शास्त्री। जैन साहित्य के क्षेत्र मे श्री गणेश मुनि जी एक जाने-माने विद्वान सत है। आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं, लेखक, कवि, गायक एव वक्ता—सभी विशेषताएँ आप मे विद्यमान है। आपकी कृतियो मे "आधुनिक विज्ञान और अहिंसा" "अहिंसा की बोलती मीनारें" अहिंसा-प्रधान विचार साहित्य मे विशिष्ट स्थान रखती है। उनमे आपकी चितक व दार्शनिक प्रतिभा का सुन्दर रूप झलकता है 'इन्द्रभूति गौतम" मुनि श्री की एक शोधप्रधान सर्वथा मौलिक कृति है जिसमे अब तक के अछूते विषय को बडे ही सुन्दर सुरुचिपूर्ण एव तथ्यात्मक ढग से प्रस्तुत किया गया है। विषय के प्रस्तुतीकरण की कला मुनिश्रीजी मे अपनी विशिष्ट है। काव्य साहित्य मे 'वाणी वीणा' एव 'सुबह के भूले' काव्य शैली के सुन्दरतम नमूने हैं। अब तक विविध विषयो पर आपने लगभग २१ से अधिक पुस्तके लिखी है जो साहित्यिक क्षेत्र मे आदर के साथ अपनाई गई हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध मे अधिक कहने की अपेक्षा नही होगी, पाठक व दर्शक स्वय ही इसे देख कर मुक्त मन से प्रशसा कर उठेगा, और गीता, रामायण एव धम्मपद की भाँति इसे भी अपने नित्य पठनीय ग्रथो की पवित्र पक्ति मे रखकर कृतार्थता अनुभव करेगा।

इस प्रकाशन को मुद्रण आदि की दृष्टि से सुन्दर व आकर्षक बनाने मे यशस्वी सपादक श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' का हार्दिक सहयोग मिला है, जिस कारण पुस्तक का मुद्रण शुद्ध, सुन्दर व बाह्य रूप भावपूर्ण बना है। इस प्रकाशन मे अर्थ सहयोग देने वाले दानी-मानी उदार चेता महानुभावो का हम हार्दिक आभार मानते हैं। अमर जैन साहित्य सस्थान की ओर से प्रकाशित महत्वपूर्ण साहित्य की पक्ति मे यह ग्रथ अपना विशेष स्थान बनायेगा और पाठको के मन को रुचिकर लगेगा इसी आशा के साथ—

मत्री

राजेन्द्रकुमार महेता

अनुक्रम

धर्म और दर्शन (१)

जीवन और कला (२)

शिक्षा और व्यवहार (३)

[३ खण्ड एव ५६ उपशीर्षकों में १००१ सदुपदेशो का सकलन]

के

हजार उपदेश

धर्म और दर्शन (१)

- धर्म
- अहिंसा
- सत्य
- अस्तेय
- ब्रह्मचर्य
- अपरिग्रह
- ज्ञान
- श्रद्धा
- तप
- भावना
- साधना
- समभाव
- सम्यग्दर्शन
- वीतरागभाव
- लेश्या-स्वरूप
- तत्त्वस्वरूप
- आत्मा
- मोक्ष

धर्म

१

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा सजमो तवो ।
देवा वि त नमसन्ति जस्स धम्मे सयामणो ॥

२

जरा मरणवेगेण, वुज्झमाणाण पाणिण ।
धम्मो दीवो पइठ्ठा य, गई सरणमुत्तम ॥

३

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविदिया न हायति, ताव धम्म समायरे ॥

४

एगा धम्मपडिमा, ज से आया पज्जवजाए ।

५

सयय मूढे धम्म नाभिजाणइ ।

६

धम्मे हरए वम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहि सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोस ॥

७

एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताण,
न विज्जई अन्नमिहेइ किंचि ।

---

१ दश० १/१ । २. उत्त० २३/६८ । ३ दश० ८/३६ । ४ स्था० १/१/४० । ५. आचा० ३/१ । ६. उत्त० १२/४६ । ७ उत्त० १४/४० ।

धर्म

१

धर्म उत्कृष्ट मगल है। वह अहिसा, सयम, तपरूप है। जिस साधक का मन सदा उक्त धर्म मे रमण करता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

२

जरा और मृत्यु के वेगवाले प्रवाह मे बहते हुए प्राणियो के लिए धर्म ही एक द्वीप (वेट) है, आधार है और उत्तम गति व शरण है।

३

जव तक वृद्धावस्था नही आती, जव तक व्याधियो का जोर नही बढता, जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नही होती, तब तक विवेकी आत्मा को जो भी धर्म का आचरण करना हो, वह कर लेना चाहिए।

४

धर्म ही एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा का शुद्धीकरण होता है।

५

सदा विषय-वासना मे रचा-पचा रहनेवाला (मूढ) मनुष्य धर्म के तत्त्व को नही पहचान पाता।

६

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्ति तीर्थ है, और कलुपभाव-रहित आत्मा प्रसन्न लेश्या है, जो मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्मा स्नान कर कर्म-रज से मुक्त होती है।

७

राजन्! एक धर्म ही रक्षा करनेवाला है, उसके सिवाय ससार मे कोई भी मनुष्य का रक्षक नही है।

८

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्म कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ॥

९

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्म च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥

१०

सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जाणइ पावग।
उभय पि जाणइ सोच्चा, ज सेय त समायरे॥

११

माणुस्स विग्गह लद्धु, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
ज सोच्चा पडिवज्जति, तव खतिमहिंसय॥

१२

एगे चरेज्ज धम्म।

१३

विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो।

१४

जहा य तिन्नि वाणिया, मूल घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहइ लाभ एगो मूलेण आगओ॥

१५

एगो मूल पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एव धम्मे वियाणह॥

---

८. उत्त० १४/२४। ९ उत्त० १४/२५। १० दश० ४/११।
११. उत्त० ३/८। १२ प्रश्न २।३। १३ प्रश्न २।३। १४ उत्त० ७।१४।
१५. उत्त० ७।१५।

८

जो-जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे पुन कभी नही लौटते, जो मनुष्य अधर्म, पाप कर्म करता है, उसके वे रात-दिन बिल्कुल व्यर्थ जाते हैं।

९

जो-जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे पुन. कभी नही लौटते, जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात-दिन पूर्ण सफल हो जाते हैं।

१०

यह आत्मा सुनकर ही धर्म का मार्ग जानता है और सुनकर ही पाप का। दोनो मार्ग सुनकर ही जाने जाते हैं। जो अभीष्ट कल्याणकर प्रतीत हो उसका आचरण करे।

११

मानव-देह पाकर भी सद्धर्म का श्रवण अति दुर्लभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते है।

१२

भले ही कोई सहयोग न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए।

१३

विनय एक स्वय तप है और वह आभ्यन्तर तप होने से श्रेष्ठतम धर्म है।

१४

किसी समय तीन वणिक पुत्र मूलपूंजी लेकर धन कमाने निकले। उनमे से एक को लाभ हुआ, दूसरा अपनी मूलपूंजी ज्यो की त्यो बचा लाया—

१५

और तीसरा मूल को भी गवाकर वापस आया। यह व्यापार की उपमा है, इसी प्रकार धर्म के विपय मे भी जानना चाहिए।

१६

माणुसत्त भवे मूल, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाण, नरग-तिरिक्खत्तण धुव ॥

१७

समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।

१८

दुविहे धम्मे—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चव।

१९

अविसवायणसपन्नयाए ण जीवे,
धम्मस्स आराहए भवइ।

२०

अत्थेगइयाण जीवाण सुत्तत्त साहू,
अत्थेगइयाण जीवाण जागरियत्त साहू ॥

२१

अत्थेगइयाण जीवाण वलियत्त साहू,
अत्थेगइयाण जीवाण दुव्वलियत्त साहू ॥

२२

जहा से दीवे असदीणे,
एव से धम्मे आयरियपदेसिए।

२३

चत्तारि धम्मदारा—
खती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे।

२४

धम्मे ठिओ अविमणे, निव्वाणमभिगच्छइ।

२५

दिव्व च गइ गच्छन्ति चरित्ता धम्मारिय।

---

१६. उत्त० ७।१६। १७ आ० १।८।३। १८. स्था० २।१ १९ उत्त० २९।४८। २० भग० १२।२। २१ भग० १२।२। २२ आचा० ६।३।४। २३ स्था० ४।४। २४. दशा० श्रु० ५।१। २५. उत्त० १८।२५।

१६

मनुष्यत्व मूलधन है। देवगति लाभरूप है और जो मनुष्य नरक तथा तिर्यक्गति को प्राप्त होता है, वह अपनी मूलपूंजी को भी गवा देनेवाला मूर्ख है।

१७

आर्य महापुरुषो ने समभाव मे धर्म कहा है।

१८

धर्म के दो रूप हैं—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म।

१९

कपटरहित आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक होता है।

२०

अधार्मिक आत्माओ का सोते रहना अच्छा है और धर्मनिष्ठ आत्माओ का जागते रहना।

२१

धर्मनिष्ठ आत्माओ का बलवान होना अच्छा है और धर्म-हीन आत्माओ का दुर्बल रहना।

२२

तीर्थंकर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्म, पानी से कभी भी न ढकने-वाले द्वीप के समान प्राणियो के लिए शरणभूत एव रक्षक है।

२३

धर्म के चार द्वार हैं—क्षमा, सन्तोप, सरलता और नम्रता।

२४

जो बिना किसी विमनस्कता के पवित्रचित्त से धर्म मे स्थित है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

२५

जो आर्य धर्म का सम्यक् आचरण करता है, वह दिव्यगति को प्राप्त करता है।

२६

धम्म चर । सुदुच्चरं ।

२७

गामे वा अदुवा रण्णे ।
नेव गामे नेव रण्णे, धम्ममायाणह ॥

२८

दीवे व धम्म ।

२९

मेहावी जाणिज्ज धम्म ।

३०

विस तु पीय जह कालकूडं,
हणाइ सत्थ जह कुग्गहीय ।
एसो वि धम्मो, विसओववन्नो,
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥

३१

धम्मविउ उज्जू ।

३२

चरिज्जधम्म जिणदेसिय विदू ।

३३

सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।

३४

जरा मच्चुवसोवणीए नरे,
सयय मूढे धम्म नाभिजाणइ ॥

३५

उत्तमधम्म सुई हु दुल्लहा ।

३६

धम्मस्स विणओ मूल ।

---

२६ उत्त० १८।३३ । २७ आचा० १।८।१ । २८. सूत्र० ६।४ ।
२९. आचा० ६।८ । ३० उत्त० २०।४४ । ३१. आचा० ३।१ ।
३२. उत्त० २१।१२ । ३३ उत्त० ३।१२ । ३४. आचा० ३।१।४ ।
३५ उत्त० १०।१८ । ३६ दश० ९।२।२ ।

२६

जो धर्म आचरण मे कठिनाईवाला और फल मे अच्छाईवाला प्रतीत हो, उसका सम्यक् रीति से पालन करना चाहिए।

२७

धर्म गाँव मे भी हो सकता है और जगल मे भी। वस्तुत धर्म न कही गाँव मे होता हे और न कही जगल मे ही, वल्कि वह तो अन्तरात्मा मे होता है।

२८

धर्म दीपक की तरह अज्ञान-अन्धकार को दूर करनेवाला है।

२९

बुद्धिमान पुरुष को धर्म का परिज्ञान करना चाहिए।

३०

जैसे पिया हुआ कालकूट विष और अविधि से पकडा हुआ शस्त्र अपना ही घातक होता है, उसी प्रकार शब्दादि विषयो की पूर्ति के लिए किया हुआ धर्म भी, अनियन्त्रित वेताल के समान साधक का विनाश कर डालता है।

३१

श्रुत-चारित्ररूप धर्म का विज्ञाता सरल होता है।

३२

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जिन-द्वारा उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

३३

सरल आत्मा की शुद्धि होती है और शुद्धात्मा मे ही धर्म स्थिर रह सकता है।

३४

वृद्धावस्था और मृत्यु के वशीभूत तथा सदैव मूढ वना हुआ प्राणी धर्म के तत्त्व को नही जानता।

३५

उत्तम धर्म का श्रवण मिलना निश्चय ही दुर्लभ है।

३६

धर्म का मूल विनय है।

अहिंसा

३७

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा
पियजीविणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीविय पिय ।

३८

एव खु नाणिणो सार, ज न हिंसइ किंचण ।

३९

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दण्ड, मणसा वयसा कायसा चेव ॥

४०

सय तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए ।
हणन्त वाऽणु जाणाइ, वेर वड्ढइ अप्पणो ॥

४१

आय तुले पयासु ।

४२

सवुज्झमाणे उ नरे मइम,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइ दुहाइ मत्ता,
वेरानुवन्धीणि महब्भयाणि ॥

४३

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे ।

---

३७ आ० २।२।३ । ३८ सूत्र० १।११।१० । ३९. उत्त० ८।१० ।
४०. सूत्र० १।१।१।३ । ४१. सूत्र० १।११।३ । ४२. सूत्र० १।१०।२१ ।
४३. उत्त० १९।२५ ।

अहिंसा

३७

सभी जीवो को अपना आयुष्य प्रिय है, सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। वध सभी को अप्रिय लगता है और जीना सबको प्रिय लगता है। प्राणी-मात्र जीवित रहने की कामनावाले हैं। सबको अपना जीवन प्रिय लगता है।

३८

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है।

३९

लोकाश्रित जो त्रस और स्थावर जीव है, उनके प्रति मन-वचन और काया—किसी भी प्रकार से दण्ड का प्रयोग न करें।

४०

जो व्यक्ति प्राणियो की स्वय हिंसा करता है, दूसरो से हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालो का अनुमोदन करता है, इस प्रकार वह ससार मे अपने लिये वैर-भाव को ही बढाता है।

४१

प्राणियो के प्रति आत्मतुल्य-भाव रखो।

४२

सम्यग्बोध प्राप्त मतिमान् मनुष्य हिसा से उत्पन्न होनेवाले वैर-भाव तथा महाभयकर दु खो को जानकर अपने को हिंसा से बचावे।

४३

शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियो पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है।

४४

नाइवाएज्ज क च ण ।

४५

उड्ढ अहे य तिरिय, जे केइ तसथावरा ।
सव्वत्थ विरइ विज्जा, सति निव्वाणमाहियं ।।

४६

पभूदोसे निराकिच्चा, न विरुज्झेज्ज केण वि ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अन्तसो ।।

४७

तमाओ ते तम जति, मदा आरम्भनिस्सिया ।

४८

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ ।

४९

तत्थिम पढम ठाण, महावीरेण देसिय ।
अहिसा निउण दिट्ठा, सव्वभूएसु सजमो ।।

५०

अप्पेगे हिंसिसु मे त्ति वा वहति,
अप्पेगे हिंसति मे त्ति वा वहति,
अप्पेगे हिंसिस्सति मे त्ति वा वहति ।

५१

जे य वुद्धा अतिक्कता, जे य वुद्धा अणागया ।
सति तेसि पइट्ठाण, भूयाण जगई जहा ।।

---

४४ आचा० २।४ । ४५. सूत्र० १।११।११ । ४६. सूत्र० १।११।१२ ।
४७ सूत्र० १।१।१।१४ । ४८. दश० ६।१० । ४९. दश० ६।८ ।
५० आ० १।१।६ । ५१ सूत्र० १।११।३६ ।

४४

किसी भी जीव का अतिपात—हिंसा मत करो।

४५

ऊर्ध्व-लोक अधो-लोक और तिर्यग्-लोक—इन तीनो लोको मे जितने भी त्रस और स्थावर जीव है उनके प्राणो का विनाश करने से दूर रहना चाहिए। वैर की शाति को ही निर्वाण कहा गया है।

४६

जीतेन्द्रिय पुरुप मिथ्यात्व-आदि दोष दूर करके किसी भी प्राणी के साथ जीवन पर्यन्त, मन, वचन और काया से वैर-विरोध न करे।

४७

परपीडा मे प्रमोद मनानेवाले अज्ञानी जीव अन्धकार से अन्धकार की ओर ही जाते हैं।

४८

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता।

४९

भगवान महावीर ने उन अठारह धर्म-स्थानो मे प्रथम स्थान अहिंसा का कहा है। इसे उन्होने सूक्ष्मता से देखा है। सब जीवो के प्रति सयम रखना अहिंसा है।

५०

'इसने मुझे मारा'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते है।
'यह मुझे मारता है'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।
'यह मुझे मारेगा'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।

५१

जिस प्रकार जीवो का आधार स्थान पृथ्वी है वैसे ही भूत और भावी ज्ञानियो के जीवन-दर्शन का आधार-स्थान शान्ति अर्थात् अहिंसा है। साराश यह है कि तीर्थंकरो को इतना ऊँचा पद प्राप्त होता है वह अहिंसा के उत्कृष्ट पालन से ही।

५२

उरालं जगओ जोगं, विवज्जासं पलिन्ति य ।
सव्वे अक्कन्तदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया ।।

५३

सव्वं जगं तु समयाणुपेही ।
पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा ।।

५४

अणेलिसस्स खेयन्ने, ण विरुज्झेज्ज केणइ ।

५५

आरम्भजं दुक्खमिणं ।

५६

अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणन्ति ।

५७

कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति ।

५८

अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी ।

५९

भगवती अहिंसा भीयाणं विव सरणं ।

६०

मेत्तिं भूएसु कप्पए ।

६१

एगं इसिं हणमाणे अणन्ते जीवे हणइ ।

---

५२ सूत्र० १।१।४।६ । ५३ सूत्र० १।१०।७ । ५४ सूत्र० १।१५।१३ ।
५५ आचा० ३।१।१०८ । ५६. प्रश्न० १।१ । ५७. प्रश्न० १।१ ।
५८ प्रश्न० २।१ । ५९ प्रश्न० २।१ । ६० उत्त० ६।२ । ६१. भग० ९।३४ ।

५२

एक जीव जो एक जन्म मे त्रस होता है, वही दूसरे जन्म मे स्थावर होता है। त्रस हो या स्थावर, सभी जीवो को दुख अप्रिय होता है ऐसा मानकर भव्यात्मा को अहिंसक बने रहना चाहिए।

५३

भव्यात्मा को चाहिये कि वह समस्त ससार अर्थात् सभी जीवो को समभाव से देखे। वह किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय न बनाएँ।

५४

सयम-निष्णात मनुष्य को किसी के भी साथ वैर-विरोध नही करना चाहिए।

५५

यह जो प्राणियो मे नाना प्रकार का दुःख देखा जाता है, वह आरम्भ-जनित है। अर्थात् हिंसा मे से उत्पन्न होता है।

५६

कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते हैं तथा कुछ लोग बिना प्रयोजन के भी।

५७

कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते है, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते हैं और कुछ लोग अज्ञानता के वशीभूत होकर हिंसा करते हैं।

५८

अहिंसा त्रस और स्थावर सभी प्राणियो का कुशल-क्षेम-मगल करने वाली है।

५९

भयाकुल प्राणी के लिए शरण की प्राप्ति श्रेष्ठ होती है। वैसे ही प्राणियो के लिए भगवती अहिंसा की शरण विशेष हितकर है।

६०

समस्त जीवो पर मैत्रीभाव रखें।

६१

एक अहिंसक ऋषि-आत्मा की हत्या करनेवाला अनन्त जीवो की हिंसा करनेवाले के समान है।

६२
अत्थि सत्थ परेण पर, नत्थि असत्थ परेण पर।

६३
सव्वे अक्कतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया।

६४
तुमसिनाम सच्चेव, ज हतव्व ति मन्नसि।

६५
न य वित्तासए पर।

६६
रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेण चेव,
पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही।

६७
हिंसन्निय वा न कह कहेज्जा।

६८
से हु पन्नाणमते वुद्धे आरभोवरए।

६९
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए।

७०
जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाण वा, न हणे नो वि घायए॥

७१
न हु पाणवह अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाई सव्वदुक्खाण।

७२
एस खलु गन्थे, एस खलु मोहे,
एस खलु मारे, एस खलु णरए।

७३
सव्वपाणा न हीलियव्वा, न निंदियव्वा

---

६२ आचा० ३।४। ६३ सूत्र० १।४।२। ६४ आचा० ५।५।
६५ उत्त० २।२०। ६६ ज्ञाता० १।५। ६७ सूत्र० १०।१०।
६८ आचा० ४।४। ६९ उत्त० ६।७। ७० दश० ६।१०।
७१ उत्त० ८।८। ७२ आचा० १।१।२। ७३. प्रश्न० २।१।

६२

शस्त्र—हिंसा एक से एक वढकर है, किन्तु अशस्त्र—अहिंसा से वढकर कोई शस्त्र नही है। साराश कि अहिंसा से बढकर दूसरी कोई साधना नही है।

६३

सभी प्राणियो को दु ख अप्रिय है, अत किसी को नही मारना चाहिए।

६४

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। अर्थात् उसकी और तेरी आत्मा एक समान है।

६५

किसी भी प्राणी को दु ख नही देना चाहिए।

६६

खून से सना वस्त्र खून से धोने से शुद्ध नही होता।

६७

आत्मार्थी साधक हिंसा को उत्पन्न करनेवाली कथा न करे।

६८

जो हिंसात्मक प्रवृत्ति से विलग है, वही बुद्ध—ज्ञानी है।

६९

भय और वैर से निवृत्त हुए प्राणियो के प्राणो का घात न करे।

७०

इस लोक मे जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन सब की जाने-अनजाने हिंसा नही करना और न दूसरो से भी करवाना चाहिए।

७१

प्राणवध का अनुमोदन करनेवाला पुरुप कदापि सर्वदु खो से मुक्त नही हो सकता।

७२

प्राणीहिंसा ही वस्तुत ग्रन्थ—वन्धन है, यही मोह है, यही मृत्यु है, और यही नरक है।

७३

ससार के किसी भी प्राणी की न अवहेलना (तिरस्कार) करनी चाहिए और न निन्दा।

सत्य

७४

त सच्च खु भगव ।

७५

भासियव्व हिय सच्च ।

७६

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसग न मुस वूया, नोवि अन्न वयावए ॥

७७

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासोय भूयाण, तम्हा मोस विवज्जए ॥

७८

सच्च लोगम्मि सारभूय, गम्भीरतर महासमुद्दाओ ।

७९

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्ज, न निरट्ठ न मम्मय ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥

८०

लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय ।

---

७४ प्रश्न० २।२ । ७५. उत्त० १९।२६ । ७६. दश० ६।११ ।
७७. दश० ६।१२ । ७८. प्रश्न० २।२ । ७९. उत्त० १।२५ ।
८० प्रश्न० २।२ ।

सत्य

७४

वह सत्य ही भगवान् है ।

७५

सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए ।

७६

निर्ग्रन्थ अपने स्वार्थ के लिये या दूसरो के लिये क्रोध से, या भय से किसी प्रसग पर दूसरो को पीडा पहुँचानेवाला सत्य या असत्य वचन न तो स्वय वोले न दूसरो से वुलवाये ।

७७

इस विश्व मे सभी सन्त पुरुषो ने मृपावाद अर्थात् असत्य वचन की घोर निन्दा की है । क्योकि वह सभी प्राणियो के लिए अविश्वसनीय है । अत असत्यवचन का परित्याग करना चाहिए ।

७८

इस लोक मे सत्य ही सार तत्व है । यह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है ।

७९

किसी के पूछने पर भी अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरो के लिये पाप युक्त निरर्थक वचन न वोले और मर्मभेदक वचन भी नही वोलना चाहिए ।

८०

मनुष्य लोभ से प्रेरित होकर झूठ वोलता है ।

८१

तहेव काण काणे त्ति, पण्डग पण्डगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेण चोरे त्ति नो वए ॥

८२

अप्पणो थवणा, परेसु निन्दा ।

८३

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि ।

८४

'सच्चम्मि धिइ कुव्विहा,
एत्थोवरए मेहावी सव्व पाव कम्म झोसइ ।

८५

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवाघइणी ।

८६

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिर वएज्जा ॥

८७

सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मार तरइ ।

८८

महिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झझाए ।

---

८१ दश० ७।१२ । ८२. प्रश्न० २।२ । ८३. आचा० १।३।३ ।
८४ आचा० १।३।२ । ८५ दश० ७।११ । ८६. दश० ७।५४ ।
८७. आचा० १।३।३ । ८८ आचा० १।३।३ ।

८१

काने को काना, नपुसक को नपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा कहना उचित नही है। (क्योकि इससे उन आत्माओ को दु ख पहुंचता है।)

८२

अपनी प्रशसा और दूसरो की निन्दा भी असत्य के जैसा ही है।

८३

हे पुरुप ! तू सत्य को पहचान।

८४

सत्य मे दृढ रहो। सत्याभिभूत बुद्धिमान् व्यक्ति सभी पाप कर्मों को नष्ट कर डालता है।

८५

जो भाषा कठोर हो और दूसरो को पीडा पहुँचानेवाली हो, वैसी भाषा न बोले।

८६

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और जीव-घातकारी भाषा न बोले, इसी तरह क्रोध लोभ भय और हास्य से भी पापकारी वाणी न बोले। हँसते हुए भी नही बोलना चाहिए।

८७

जो मतिमान् साधक सत्य की आज्ञा मे सदा तत्पर रहता है, वह मार—अर्थात् मृत्यु के प्रवाह को पार कर जाता है।

८८

सत्य-निष्ठ साधक सब ओर दु खो से घिरा रहकर भी घबराता नही है और न विचलित ही होता है।

८९

सच्चेण महासमुद्दमज्झे वि चिट्ठ ति, न निमज्जति ।

९०

जे ते उ वाइणो एव, न ते ससारपारगा ।

९१

सच्चेसु वा अणवज्ज वयति ।

९२

सच्च च हिय च मिय च गाहण च ।

९३

सच्च जसस्स मूल, सच्च विस्सासकारणपरम ।
सच्च सग्गद्दार, सच्च सिद्धीइ-सोपाण ॥

९४

सच्च पि य सजमस्स उवरोहकारक किंचि वि न वत्तव्व ।

९५

सच्च सोमतरं चदमडलाओ,
दित्ततर सूरमण्डलाओ ।

९६

सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ।

---

८९. प्रश्न० २।२। ९० सूत्र० १।१।१।२१ । ९१ सूत्र० ६।२३ ।
९२. प्रश्न० २।२ । ९३ धर्मसग्रह । ९४. प्रश्न० २।२ ।
९५. प्रश्न० २।२ । ९६. दश० ७।११ ।

८९

सत्य के प्रभाव से मनुष्य महासमुद्र मे भी सुरक्षित रहते है डूबते नही ।

९०

जो मनुष्य असत्य का पोपण करते हैं, वे ससार-सागर को पार नही कर सकते ।

९१

सत्य वचनो मे भी अनवद्य सत्य अर्थात् हिंसा-रहित सत्य वचन श्रेष्ठ है ।

९२

साधक को ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए, जो हित, मित और ग्राह्य हो ।

९३

सत्य यश का मूल है, सत्य विश्वास का परम कारण है, सत्य स्वर्ग का द्वार है और सत्य ही सिद्धि का सोपान है ।

९४

सत्य भी यदि सयम का विघातक हो तो, उसे बोल कर प्रकट नही करना चाहिए ।

९५

सत्य—चन्द्र मण्डल से भी अधिक सौम्य है और सूर्य मण्डल से भी अधिक तेजस्वी—प्रभास्वर है ।

९६

ऐसा सत्य भी नही बोलना चाहिए, जिससे किसी प्रकार का पापागम—अनर्थ होता हो ।

९७

न लवे असाहु साहु त्ति,
साहु साहु त्ति आलवे।

९८

अलियवयण अयसकर
वेरकरग, मणसकिलेसवियरण।

९९

मणुयगणाण वदणिज्ज अमरगणाण अच्चणिज्ज।

१००

ओए तहीय फरुस वियाणे।

१०१

अप्पणा सच्चमेसिज्जा।

१०२

सया सच्चेण सम्पन्ने मेत्ति भूएसुकप्पए।

---

९७ दश० ७।४८। ९८. प्रश्न० १।२। ९९. प्रश्न० २।२।
१०० सूत्र० १४।२१ १०१. उत्त० ६।२। १०२ सूत्र १।१५।३।

९७

किसी स्वार्थ या दवाव के कारण असाधु को साधु नही कहना चाहिए, साधु को ही साधु कहना चाहिए।

९८

असत्यवचन वोलने से वदनामी होती है, परस्पर वैर वढता है, और मन मे सक्लेश की अभिवृद्धि होती है।

९९

सत्य, मनुष्यो द्वारा स्तुत्य तथा देवो द्वारा अर्चनीय है।

१००

सत्य वचन भी यदि कठोर हो, तो वह मत बोलो।

१०१

अपनी आत्मा के द्वारा सत्य की खोज करो !

१०२

जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्य भावो से सम्पन्न है, उसे विश्व के प्राणी-मात्र के साथ मित्रता रखनी चाहिये।

अस्तेय

१०३

दन्तसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जण ।

१०४

तइय च अदत्तादाण हरदहमरण भयकलुस-
तासण परसतिमऽभेज्ज लोभमूल ..
अकित्तिकरण अणज्ज · साहुगरहणिज्ज
पियजणमित्तजण भेद विप्पीतिकारक रागदोसवहुल ॥

१०५

रूवे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्त ॥

१०६

चित्तमतमचित्त वा अप्प वा जइ वा वहु ।
दन्त सोहणमित्त पि, उग्गह से अजाइया ॥
त अप्पणा न गिण्हति, नो वि गिण्हावए पर ।
अन्न वा गिण्हमाण पि, नाणु जाणति सजया ॥

१०७

अणुन्नविय गेण्हियव्व ।

---

१०३ उत्त० १९।२८ । १०४. प्रश्न० ३।९ । १०५ उत्त० ३२।२९ ।
१०६ दश० ६।१३-१४ । १०७. प्रश्न० २।३ ।

अस्तेय

१०३

अस्तेय व्रत मे निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति विना किसी की अनुमति के—यहाँ तक कि दाँत कुरेदने के लिए एक तिनका भी नही लेता ।

१०४

तीसरा अदत्तादान-दूसरो के हृदय को दाह पहुँचानेवाला, मरण, भय, पाप, कष्ट तथा परद्रव्य की लिप्सा का कारण तथा लोभ का कारण है । यह अपयश का कारण है, अनार्यकर्म है, सन्त पुरुषो द्वारा निन्दित है । प्रियजन और मित्रजनो मे भेद करनेवाला है तथा अनेकानेक राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला है ।

१०५

जो रूप मे अतृप्त होता है उसकी आसक्ति वढती ही जाती है, इसलिए उसे सन्तोष नही होता । असन्तोष के दोष से दु खित होकर वह दूसरे की सुन्दर वस्तुओ का लोभी बनकर उन्हे चुरा लेता है ।

१०६

सचित्त पदार्थ हो या अचित्त, अल्प मूल्यवाला पदार्थ हो या वहुमूल्य, और तो क्या दाँत कुरेदने की शलाका भी जिस गृहस्थ के अधिकार मे हो, उसकी विना आज्ञा प्राप्त किये पूर्ण सयमी साधक न तो स्वय ग्रहण करते हैं, न दूसरो को ग्रहण करने के लिए उत्प्रेरित करते हैं और न ग्रहण करनेवालो का अनुमोदन ही करते हैं ।

१०७

किसी भी चीज को आज्ञा लेकर ग्रहण करनी चाहिए ।

१०८

असंविभागी, असंगहरुई अप्पमाणभोई....
से तारिसए नाराहए वयमिण ।

१०९

सविभागसीले सगहोवग्गहकुसले,
से तारिसए आराहए वयमिण ।

११०

लोभाविले आययई अदत्त ।

१११

असविभागी न हु तस्स मोक्खो ।

११२

परदव्वहरा नरा निरणुकपा निरवेक्खा ।

११३

परसंतिगऽभेज्जलोभमूलं ।

---

१०८ प्रश्न० २।३ १०९. प्रश्न० २।३ ११०. उत्त० ३२।२९
१११. दश० ९।२।२२ ११२ प्रश्न० १।३ ११३ प्रश्न० १।३९

१०८

जो असविभागी है, असग्रहरुचि है, अप्रमाणभोगी है, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना नही कर सकता ।

१०९

जो सविभागशील है, सग्रह और उपग्रह मे कुशल है, वही अस्तेयव्रत की सम्यग् आराधना कर सकता है ।

११०

जब व्यक्ति लोभ से अभिभूत होता है तब चौर्य-कर्म के लिए प्रवृत्त होता है ।

१११

जो सविभागी-प्राप्त सामग्री को साथियो मे बाँटता नही है, उसकी मुक्ति नही होती ।

११२

दूसरो का धन हरण करनेवाले मनुष्य निर्दय एव परभव की उपेक्षा करनेवाले होते हैं ।

११३

पर धन मे गृद्धि का मूल हेतु लोभ है और यही चौर्य-कर्म है । ●

ब्रह्मचर्य

११४

देव-दाणव-गधव्वा, जक्ख-रक्खस्स किन्नरा।
बभयारिं नमसन्ति, दुक्कर जे करंति ते ॥

११५

जहा कुम्मे सअगाइं, सए देहे समाहरे।
एव पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥

११६

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे।

११७

तवेसु वा उत्तम-वभचेर।

११८

बभचेर उत्तमतव-नियम-णाण-
दसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूल।

११९

जमि य भग्गमि होइ सहसा सव्व भग्ग
जमि य आराहियमि आराहिय वयमिण सव्व।....

१२०

अणेगा गुणा अहीणा भवति एक्कमि बभचेरे।

---

११४. उत्त० १६।१६ ११५. सूत्र० १।८।१६ ११६ आचा० १।५।४०। ११७ सूत्र० १।६।२३ ११८ प्रश्न० २।४ ११९ प्रश्न० २।४ १२०. प्रश्न० २।४

ब्रह्मचर्य

११४

जो व्यक्ति दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उस ब्रह्मचारी के चरणो मे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये सभी नमस्कार करते हैं।

११५

जिस प्रकार कछुआ अपने अगो को अन्दर मे सिकोड कर खतरे से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार साधक अध्यात्मयोग के द्वारा अन्तराभिमुख होकर अपने आप को विषयो से बचाये रखे।

११६

जो काम-गुण है, इन्द्रियो के शब्दादि विषय है वह आवर्त-ससार चक्र है और जो आवर्त है वही काम-गुण है।

११७

तपो मे उत्कृष्ट तप—ब्रह्मचर्य है।

११८

ब्रह्मचर्य—उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है।

११९

एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर अन्य सब गुण सहसा नष्ट हो जाते हैं, और एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब व्रतशील, तप, विनय आदि आराधित हो जाते हैं।

१२०

एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वत प्राप्त हो जाते हैं।

१२१

उग्ग महव्वय, धारेयव्व सुदुक्कर ॥

१२२

एए य सगे समइक्कमित्ता,
सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गगासमाणा ॥

१२३

मूलमेयमहम्मस्स, महादोस समुस्सय ।

१२४

जतुकुभे जहा उवजोई, सवास विदू विसीएज्जा ॥

१२५

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहापरे ॥

१२६

कामाणुगिद्धिप्पभव खु दुक्ख,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।

१२७

विभूस परिवज्जेज्जा, सरीर परिमडण ।
बभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थ न धारए ॥

१२८

सद्दे रुवे य गन्धे, रसे फासे तहेव य ।
पच विहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥

१२९

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।

---

१२१. उत्त० १६।२८ १२२. उत्त० ३२।१८ १२३ दश० ६।१६
१२४. सूत्र० १।४।२६ १२५. उत्त० १६।१७ १२६. उत्त० ३२।१९
१२७ उत्त० १६।९ १२८. उत्त० १६।१० १२९ उत्त० १६।१४

१२१

उग्र ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करना अति कठिन कार्य है।

१२२

जो मनुष्य स्त्री-विषयक आसक्तियो का पार पा जाता है उसके लिए शेष समस्त आसक्तियाँ वैसे ही सुगम हो जाती हैं—जैसे महासागर को पार पा जानेवाले के लिए गगा जैसी महानदी।

१२३

अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महादोषो का स्थान है।

१२४

जिस प्रकार लाक्षा-निर्मित घडा आग से पिघल जाता है वैसे ही मतिमान् पुरुष भी स्त्री के सहवास से विषाद को प्राप्त होता है।

१२५

यह ब्रह्मचर्य धर्म, नित्य, शाश्वत और जिन द्वारा उपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल मे अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य मे भी होगे।

१२६

देव भूमि से लेकर समस्त लोक मे दुख का मूल एक मात्र काम-भोगो की वासना ही है।

१२७

ब्रह्मचर्य-साधनारत साधक-भिक्षु शृंगार का वर्जन करे और शरीर की शोभा बढानेवाले केश, दाढी आदि को शृंगार के लिए धारण न करे।

१२८

ब्रह्मचारी-शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के काम-गुणो का सदा परित्याग करे।

१२९

स्थिर-चित्त भिक्षु दुर्जय काम भोगो को हमेशा के लिए छोड दे।

१३०

हत्थपायपडिच्छिन्न, कन्ननासविगप्पिय।
अवि वाससय नारिं, बभयारी विवज्जए॥

१३१

जहा विरालावसहस्स मूले,
न मूसगाण वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बभयारिस्स खमो निवासो॥

१३२

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्च कुललओभय।
एव खु बभयारिस्स, इत्थी विग्गहओ भय॥

१३३

दुक्ख वभवय घोर।

१३४

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह समया।
एव लोगसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया॥

१३५

वाउ व्व जालमच्चेइ पिया लोगसि इत्थिओ।

१३६

इत्थिओ जे न सेवन्ति आइमोक्खा हु ते जणा।

१३७

विसएसु मणुन्नेसु, पेम नाभिनिवेसए।
अणिच्च तेसि विन्नाय, परिणाम पुग्गलाण य॥

---

१३०. उत्त० ८।५६   १३१. उत्त० ३२।१३   १३२. दश० ८।५४
१३३ उत्त० १९।३४   १३४ सूत्र० १।३।४।१६   १३५. सूत्र० १।१५।८
१३६. सूत्र० १।१५।९   १३७. दश० ८।५९

१३०

जिसके हाथ, पैर कट चुके हो, नाक, कान वेडोल तथा जो सौ वर्ष आयु की हो गई हो, ऐसी वृद्धा और कुरूपा स्त्री का ससर्ग भी ब्रह्मचारी को छोड देना चाहिए ।

१३१

जैसे विल्ली की वस्ती के पास चूहो का रहना अच्छा नही होता, वैसे ही स्त्रियो के निवासस्थान के वीच ब्रह्मचारी का रहना योग्य नही है ।

१३२

जिस प्रकार मुर्गी के वच्चे को विल्ली द्वारा प्राण-हरण का सदा भय वना रहता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी स्त्री-सम्पर्क मे आते हुए अपने ब्रह्मचर्य के भग होने का भय वना रहता है ।

१३३

उग्र ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना अत्यन्त कठिन है ।

१३४

जिस प्रकार सर्व नदियो मे वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है उसी प्रकार इस लोक मे अविवेकी पुरुप के लिए स्त्रियो का मोह जीतना अत्यन्त कठिन है ।

१३५

जैसे पवन अग्निशिखा को पार कर जाता है वैसे ही महान् त्यागी-पराक्रमी पुरुष प्रिय स्त्रियो के मोह को उल्लघन कर जाते हैं ।

१३६

जो पुरुप स्त्रियो का सेवन नही करते वे मोक्ष पहुँचने मे सव से अग्रसर होते है ।

१३७

शव्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन समस्त पुद्गलो के परिणमन को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी सावक मनोज्ञ-विपयो मे राग-भाव न करे ।

१३८

विभूसा इत्थिससग्गो, पणीय रसभोयण।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विस तालउड जहा ॥

१३९

जेहिं नारीण सजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेय निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥

१४०

स इसी, स मुणी, स सजए, स एव भिक्खू,
जे सुद्ध चरइ बभचेरं।

१४१

एक्कमि बभचेरे जमिय आराहियमि,
आराहियं वयमिण सव्व,····· तम्हा निउएण
बभचेर चरियव्व।

१४२

अबभचरिय घोर, पमाय दुरहिट्ठिय।
नाऽयरति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥

१४३

अदसण चेव अपत्थण च,
अचिंतण चेव अकित्तण च।
इत्थी जणस्साऽऽरियज्झाण जुग्ग,
हिय सया बभवए रयाण ॥

१४४

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
समारुओ नोवसम उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बभयारिस्स हियाय कस्सई ॥

---

१३८ दश० ८।५७ १३९ सूत्र० १।३।४।१७ १४० प्रश्न० ४।१
१४१ प्रश्न० ४।१ १४२ दश० ६।१५ १४३ उत्त० ३२।१५
१४४ उत्त० ३२।११

१३८

आत्मगवेषी पुरुष के लिए देह विभूषा, स्त्री-ससर्ग और प्रणीतरस का स्वादिष्ट भोजन तालपुट विष के समान है ।

१३९

जिन पुरुषो ने स्त्री ससर्ग और शरीर शोभा को तिलाञ्जलि दे दी है वे सभी विघ्नो पर विजय प्राप्त कर उत्तम समाधि मे निवास करते हैं ।

१४०

वही ऋषि है, वही मुनि है, वही सयत है, और वही भिक्षु है, जो शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

१४१

जिसने एक ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना की हो, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतो की सम्यक् आराधना की है—ऐसा मानना चाहिए । अत कुशल साधक को ब्रह्मचर्य व्रत की पूर्णतया परिपालना करनी चाहिए ।

१४२

अब्रह्मचर्य लोक मे घोर प्रमादजनक और घृणा प्राप्त करानेवाला है । चारित्र भग के स्थान से वचनेवाले अब्रह्मचर्य का कदापि सेवन नही करते ।

१४३

जो साधक ब्रह्मचर्य की साधना मे लीन है, उनके लिए स्त्रियो को राग-दृष्टि से न देखना, न अभिलाषा करना, न मन से उनका चिन्तन करना और न प्रशसा करना । ये सव सदा धर्म-ध्यान के लिये हितकर है ।

१४४

जैसे प्रचुर ईंधन वाले वन मे लगी हुई तथा पवन के झोको से प्रेरित दावाग्नि शान्त नही होती, उसी प्रकार प्रकाम-भोगी-सरस एव अधिक परिमाण मे आहार करनेवाले की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नही होती । अत ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम-भोजन श्रेयस्कर नही होता ।

१४५

जे विन्नवणाहिंऽजोसिया, सतिन्नेहि समं वियाहिया ।

१४६

कुसीलवड्ढण ठाण, दूरओ परिवज्जए ।

१४७

त वभ······वेरुलिओ चेव जहा मणिण,
जहा मउडो चेव भूसणाण, वत्थाण चेव खोमजुयल,
अरविंद चेवपुप्फजेट्ठ, गोसीस चेव चंदणाण,
हिमव चेव ओसहीण, सीतोदा चेव तिन्नगाण,
उदहीसु जहा सयभूरमणो, ··एरावण इव कुजराण,
· ·कप्पाण चेव वभलोए······दाणाण चेव अभयदाण,
· ·तित्थयरे चेव जहा मुणीण · वणेसु जहा नन्दणवण पवरं ।

१४८

अवभयारी जे केइ, वंभयारी त्ति हं वए ।
गद्दहेव्व गवां मज्झे, विस्सरं नयई नदं ॥

---

१४५. २।३।२ १४६. दशा० ६।५६ १४७ प्रश्न० स० ४।१
१४८ दशा० ६।१२

१४५

जो पुरुष स्त्रियो द्वारा सेवित नही है वे सतीर्ण अर्थात् सिद्ध पुरुषो के सदृश कहे गये है ।

१४६

ब्रह्मचारी को वह स्थान दूर से ही त्याग देना चाहिए, जहाँ रहने से कुशील की वृद्धि होती हो ।

१४७

जैसे मणियो मे वैडूर्यमणि श्रेष्ठ है, भूषणो मे मुकुट प्रवर है, वस्त्रो मे क्षौम-युगल [बहुमूल्य रेशमी वस्त्र] मुख्य है, पुष्पो मे अरविन्द पुष्प उत्कृष्ट है, चन्दनो मे गोशीर्ष चन्दन प्रकृष्ट है, औषधियुक्त पर्वतो मे हिमवान् श्रेष्ठ है, नदियो मे सीतोदा बडी है, समुद्र मे स्वयम्भूरमण बृहत्तम है तथा हाथियो मे ऐरावत, स्वर्गो मे ब्रह्मस्वर्ग [पञ्चमस्वर्ग] दानो मे अभयदान, मुनियो मे तीर्थंकर और वनो मे नन्दनवन उत्कृष्ट है, वैसे ही व्रतो मे ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है ।

१४८

ब्रह्मचारी न होते हुए भी जो यह कहे कि "मैं ब्रह्मचारी हूँ" वह गायो के समूह के बीच गर्दभ की तरह विस्वर नाद करता है ।

●

अपरिग्रह

१४९

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।

१५०

वित्तेण ताण न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।

१५१

नत्थि एरिसो पासो पडिबधो अत्थि,
सव्व जीवाणं सव्वलोए ।

१५२

इच्छा हु आगास समा अणंतिया ।

१५३

धणधन्न पेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारभपरिच्चाओ, निम्ममत्त सुदुक्कर ।।

१५४

वहुपि लद्धु न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाण अवसक्किज्जा ।

१५५

जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ सजोग, सब्भितर - वाहिरं ।।

---

१४९ दश० ६।२०　　१५० उत्त० ४।५　　१५१ प्रश्न० १।५
१५२ उत्त० ९।४८　　१५३ उत्त० १९।२९　　१५४ आचा० १।२।५
१५५ दश० ४।१७

अपरिग्रह

१४९

वस्तु के प्रति रहे हुए ममत्व-भाव को परिग्रह कहा है।

१५०

प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक मे अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक मे ही।

१५१

विश्व के सभी प्राणियो के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नही, वन्धन नही।

१५२

इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

१५३

धन-धान्य, नौकर-चाकर आदि का परिग्रह त्यागना, सर्व हिंसात्मक प्रवृत्तियो को छोडना और निरपेक्षभाव से रहना, यह अत्यन्त दुष्कर है।

१५४

वहुत मिलने पर भी सग्रह न करे। परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे।

१५५

जव मनुष्य दैविक और मानुषिक (मनुष्य-सम्वन्धी) भोगो से विरक्त हो जाता है तव वह आभ्यन्तर और वाह्य परिग्रह को छोड कर आत्म-साधना मे जुट जाता है।

१५६

ज पि वत्थ च पाय वा, कवल पायपुछण ।
ज पि सजम-लज्जट्ठा, धारति परिहरति य ॥

१५७

जे पावकम्मेहि घण मणूसा,
समाययन्ती अमय गहाय ।
पहाय ते पास पयट्टिए नरे ।
वेराणुवद्धा नरय उवेति ॥

१५८

जस्सि कुले समुप्पन्ने, जेहि वा सवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई वाले, अन्ने-अन्नेहि मुच्छिए ॥

१५९

कसिण पि जो इम लोय, पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाऽवि से न सतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

१६०

परिग्गहनिविट्ठाण, वेर तेसिं पवड्ढई ।

१६१

विडमुब्भेइम लोण, तेल्ल सप्पि च फाणिय ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्त-वओरया ॥

१६२

सव्वत्थुवहिणा वुद्धा, सरक्खण-परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि,नाऽयरन्ति ममाइय ॥

---

१५६ दश० ६।१९ १५७ उत्त० ४।२ १५८ सूत्र० १।१।४
१५९ उत्त० ८।१६ १६० सूत्र० १।९।३ १६१ दश० ६।१७
१६२ दश० ६।२१

१५६

जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हे मुनि सयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं। किसी समय वे सयम की रक्षा के लिए इनका परित्याग भी करते है।

१५७

जो मनुष्य धन को अमृत मानकर अनेक पापकर्मों द्वारा उसका उपार्जन करते हैं, वे धन को छोड कर मौत के मुँह मे जाने को तैयार हैं, वे वैर से वंधे हुए मर कर नरकवास प्राप्त करते है।

१५८

अज्ञानी मनुष्य जिस कुल मे उत्पन्न होता है, अथवा जिसके साथ निवास करता है उस मे ममत्वभाव रखता हुआ अपने से भिन्न वस्तुओ मे इस मूर्च्छा भाव से अन्त मे वह वहुत दु खित होता है।

१५९

यदि धन-धान्य परिपूर्ण यह सारी सृष्टि किसी एक व्यक्ति को दे दी जाय तव भी उसे सतोप होने का नही, क्योंकि लोभी आत्मा की तृष्णा दुष्पूर होती है।

१६०

जो परिग्रह-सग्रहवृत्ति मे व्यस्त है, वे ससार मे अपने प्रति वैर की ही अभिवृद्धि करते हैं।

१६१

जो लोग भगवान महावीर के वचनो मे अनुरक्त है, वे मक्खन, नमक, तेल, घृत, गुड आदि किसी वस्तु के सग्रह करने का मन मे सकल्प तक नही लाते।

१६२

ज्ञानी पुरुप सयम साधक उपकरणो के लेने और रखने मे ममत्व-वृत्ति का अवलम्वन नही रखते। अधिक तो क्या, अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नही रखते।

१६३

जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से ।

१६४

थोवाहारो थोवभणिओ य, जो होइ थोवनिद्दो य ।
थोवोवहि-उवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति ।।

१६५

अन्ने हरंति त वित्तं, कम्मी कम्मेहिं किच्चती ।

१६६

कामे कमाही, कमिय खु दुक्खं ।

१६७

जे ममाइअ मइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं ।

१६८

से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं ।

१६६

एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ ।

१७०

तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते, तं जहा-
कम्म- परिग्गहे, सरीर- परिग्गहे,
वाहिरभंडमत्त — परिग्गहे ।

१७१

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।

---

१६३ दश० ६।१८ १६४ आवश्यक-निर्युक्ति १२६५ १६५ सूत्र० १।६।४
१६६ दश० २।५ १६७ आचा० २।६ १६८. आचा० २।६
१६६ आचा० ५।२ १७०. भग० १८।७ १७१ दश० ६।१८

१६३

जो साधु मर्यादा विरुद्ध कुछ भी सग्रह करना चाहता है, वह साधु नही, वल्कि गृहस्थ ही है।

१६४

जो साधक मिताहारी, मित-भापी, मित-शायी और मित-परिग्रही है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

१६५

सचय किया हुआ धन यथासमय दूसरे उडा लेते है किंतु सग्रही को अपने पाप कर्मों का दुष्फल भोगना ही पडता है।

१६६

कामनाओ का अन्त करना ही दु ख का अन्त करना है।

१६७

जो साधक अपनी ममत्वबुद्धि का त्याग कर सकता है, वही परिग्रह का त्याग करने मे समर्थ हो सकता है।

१६८

जिस की चित्तवृत्ति से ममत्वभाव निकल चुका है, वही समार के भय स्थानो को सुन्दर रीति से देख सकता है।

१६९

परिग्रह ही इस लोक मे महाभय का कारण होता है।

१७०

परिग्रह तीन प्रकार का है — कर्म-परिग्रह, शरीर-परिग्रह, वाह्य-भण्ड-मात्र-उपकरण-परिग्रह।

१७१

सग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है।

१७२

पढम नाण तओ दया ।

१७३

जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ ।
तहा जीवे ससुत्ते, ससारे वि न विणस्सइ ।

१७४

जहाऽऽइण्णसमारूढे,
सूरे दढपरक्कमे ।
उभओ णदिघोसेण,
एव हवइ वहुस्सुए ॥

१७५

अलमप्पणो होति अल परेसिं ।

१७६

इह भविए वि नाणे, परभविए वि नाणे ।
तदुभयभविए वि नाणे ।

१७७

जहा से सहसक्खे, वज्जपाणी पुरदरे ।
सक्के देवाहिवई, एवं हवइ वहुस्सुए ॥

१७८

तम्हा पडिए नो हरिसे, नो कुप्पे ।

---

१७२ दश० ४।१० १७३ उत्त० २६।५६ १७४ उत्त० ११।१७
१७५ सूत्र० १।१२।१६ १७६ भग० १।१ १७७ उत्त० ११।२३
१७८ आचा० १।२।३।

ज्ञान

१७२

प्रथम ज्ञान होना चाहिए तत्पश्चात् दया अर्थात् आचरण।

१७३

जिस प्रकार धागे मे पिरोई हुई सुई गिर जाने पर भी गुम नही होती है, उसी प्रकार ज्ञानरूप धागे से युक्त आत्मा ससार मे कही भटकती नही, अर्थात् विनाश को प्राप्त नही होती।

१७४

जिस प्रकार उत्तम जाति के अश्व पर चढा हुआ महान् पराक्रमी योद्धा दोनो ओर वजनेवाले वाद्यो के आघोष से अजेय होता है। उसी प्रकार वहुश्रुत विद्वान् भी परवादियो से (शास्त्रार्थ मे) पराजित नही होता।

१७५

ज्ञानी आत्मा ही 'स्व और पर' के कल्याण मे समर्थ होती है।

१७६

ज्ञान का प्रकाश इस जन्म मे रहता है, पर जन्म मे रहता है और कभी दोनो जन्मो मे भी रहता है।

१७७

जिस प्रकार सहस्रचक्षु, वज्रपाणि और नगरो का विध्वस करनेवाला शक्र देवो का स्वामी होता है उसी प्रकार वहुश्रुत ज्ञानी दैवी सम्पदा का अधिपति होता है।

१७८

आत्म-द्रष्टा साधक को ऊँची या नीची कैसी भी स्थिति मे न हर्षित होना चाहिए और न कुपित ही।

१७९

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य सखएण,
एगत सोक्ख समुवेइ मोक्ख ॥

१८०

नाणेण जाणई भावे।

१८१

विन्नाणेण समागम्म, धम्म साहणमिच्छिय।

१८२

नच्चा नमइ मेहावी।

१८३

जहा से तिमिरविद्धसे, उत्तिट्ठन्ते दिवायरे।
जलन्ते इव तेएण, एव हवइ बहुस्सुए ॥

१८४

जहा से उडुवई चन्दे, नक्खत्त-परिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एव हवइ बहुस्सुए ॥

१८५

सम्मद्दिट्ठिस्स सुय सुयणाण,
मिच्छद्दिट्ठिस्स सुय सुयअन्नाण।

१८६

नाणसपन्नयाए ण जीवे,
सव्वभावाहिगम जणयइ।

---

१७९ उत्त० ३२।२ १८० उत्त० २८।३५ १८१ उत्त० २३।३१
१८२ उत्त० १।४५ १८३ उत्त० ११।२४ १८४ उत्त० ११।२५
१८५ नदी० ४४ १८६ उत्त० २९।५९

१७६

सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के त्याग से, राग और द्वेष के क्षय होने से, आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

१८०

जीव ज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को जानता है।

१८१

विज्ञान से यथोचित जान कर ही धर्म के साधनो-उपकरणो का निर्णय होता है।

१८२

प्रज्ञाशील ज्ञानोपार्जन कर के विनम्र हो जाता है।

१८३

जिसप्रकार तिमिर का नाशकरनेवाला उदीयमान सूर्य तेज से जाज्वल्यमान प्रतीत होता है, उसी प्रकार वहुश्रुत-ज्ञानी तप की प्रभा से उज्ज्वल प्रतीत होता है।

१८४

जिसप्रकार नक्षत्र परिवार से परिवृत ग्रहपति चन्द्रमा पूर्णिमा को परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार सन्त जन के परिवार से परिवृत वहुश्रुत-ज्ञानी समस्त कलाओ मे परिपूर्ण होता है।

१८५

सम्यक्दृष्टि जीव का श्रुत, श्रुतज्ञान है।
मिथ्यादृष्टि जीव का श्रुत, श्रुत अज्ञान है।

१८६

ज्ञान की सम्पन्नता से जीव सभी पदार्थ-स्वरूप को जान सकता है।

१८७

नाणसपसन्ने ण जीवे चाउरन्ते,
ससारकन्तारे न विणस्सइ ।

१८८

एगे नाणे

१८९

दुविहे नाणे पण्णत्ते, तजहा-
पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव ।

१९०

सुयस्स आराहणयाएण अन्नाण खवेइ ।

१९१

नाणेण विणा न हुति चरणगुणा ।

१९२

जहा सा नईणपवरा, सलिला सागरंगमा ।
सीया नीलवन्तपवहा, एव हवइ बहुस्सुए ॥

१९३

जहा से नगाणपवरे सुमहं मन्दरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए, एव हवइ बहुस्सुए ॥

१९४

जहा से सयभूरमणे, उदही अक्खओदए ।
नाणारयणपडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥

---

१८७ उत्त० २९।५९ १८८ स्था० १।४३ १८९ स्था० २।१।७१
१९० उत्त० २९।२४ १९१ उत्त० २८।३० १९२ उत्त० ११।२८
१९३. उत्त० ११।२९ १९४. उत्त० ११।३०

१८७

ज्ञान सम्पन्न जीव चार गति-रूप ससार अटवी मे विनाश को प्राप्त नही होता ।

१८८

उपयोग की दृष्टि से ज्ञान एक प्रकार का है ।

१८९

ज्ञान दो प्रकार का कहा है, प्रत्यक्ष और परोक्ष (अवधि, मन पर्यव और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष है ।)

१९०

ज्ञान की आराधना करने से जीव अज्ञान का क्षय करता है ।

१९१

ज्ञान के अभाव मे चारित्र—सयम नही होता ।

१९२

जिसप्रकार नीलवान पर्वत से निकल कर सागर मे मिलनेवाली शीता नदी अन्य नदियो मे श्रेष्ठतम है, उसीप्रकार वहुश्रुत आत्मा सर्व-साधुओ मे श्रेष्ठ होता है ।

१९३

जिसप्रकार अनेक औपधियो से दीप्त महान् मन्दराचल पर्वत सर्व पर्वतो मे श्रेष्ठ है उसीप्रकार वहुश्रुत-आत्मा सर्व-साधुओ मे श्रेष्ठ होता है ।

१९४

जिसप्रकार अगाध जल से परिपूर्ण स्वयम्भूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नो से भरा हुआ होता है, उसीप्रकार वहुश्रुत आत्मा अक्षय ज्ञान गुण से परिपूर्ण होता है ।

१९५

सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणेय संजमे ।
अणण्हये तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

१९६

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।

१९७

एव पचविहं नाण, दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसिय ॥

१९८

तत्थ पचविहं नाणं, सुअं आभिणिवोहिअ ।
ओहिणाण च तइअं, मणणाण च केवल ॥

१९९

सुय दुविहं पण्णत्तं, त जहा- लोइयं लोगुत्तरिय ।

२००

नाणी नो पमायए कयावि ।

२०१

मेहाविणो लोभ- भयावतीता ।

२०२

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं ।

२०३

दोहिं ठाणेहिं जीवे ससारकतार वीइवएज्जा ।
त जहा - विज्जाए चेव, चरणेण चेव ॥

---

१९५ नग० २।५ — १९६ उत्त० ६।१ — १९७ उत्त० २८।५ ।
१९८ उत्त० २८।४ — १९९ अनु० १४५ — २०० आचा० ३।३ ।
२०१. सूत्र० १२।१५ — २०२ उत्त० ४।१० — २०३ स्था० २।१ ।

१९५

धर्मश्रवण से तत्त्व-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से सयम, सयम से अनाश्रव, अनाश्रव से तप, तप से निर्जरा, निर्जरा से निष्कर्मता और निष्कर्मता से सिद्धि प्राप्त होती है ।

१९६

जितने अविद्यावान् पुरुप हैं वे सव अनेकानेक दु ख उत्पन करनेवाले है ।

१९७

सर्वद्रव्य, सर्वगुण और सर्वपर्यायो का स्वरूप जानने के लिए ज्ञानियो ने पॉच प्रकार का ज्ञान वतलाया है ।

१९८

ज्ञान पॉच प्रकार का है—श्रुतज्ञान, आभिनिवोधिक ज्ञान [मतिज्ञान] अवधिज्ञान, मन पर्यव ज्ञान और केवलज्ञान ।

११९

ज्ञान दो प्रकार का कहा है—लौकिक— रामायण आदि और लोकोत्तर-आचाराङ्ग (आगम) आदि ।

२००

ज्ञानी आत्मा को किसी भी परिस्थिति मे प्रमाद नही करना चाहिए ।

२०१

ज्ञानी लोभ और भय से सदा मुक्त होते है ।

२०२

विवेक [ज्ञान] शीघ्र प्राप्त नही होता ।

२०३

दो स्थानो से जीव ससाररूप वन को पार करता है—विद्या [ज्ञान] से और चारित्र से । ●

श्रद्धा

२०४

सद्धा परमदुल्लहा ।

२०५

अदक्खु, व दक्खुवाहिय सद्दहसु ।

२०६

ससय खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घर ।

२०७

सद्धा खम णे विणइत्तु राग ।

२०८

वितिगिच्छासमावन्नेण अप्पाणेण नो लहई समाहि ।

२०९

जाए सद्धाए णिक्खतो, तमेव-
अणुपालिया, वियहित्तु विसोत्तिय ।

२१०

सुईं च लद्धु सद्ध च, वीरिय पुण दुल्लह ।
वहवे रोयमाणा वि, णो य ण पडिवज्जई ।।

२११

धम्मसद्धाएण सायासोक्खेसु
रज्जमाणे विरज्जइ ।

२१२

सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।

---

२०४. उत्त० ३।९   २०५ सूत्र० २।३।११   २०६. उत्त० ९।२६
२०७ उत्त० १४।२८   २०८ आचा० १।५।५   २०९ आचा० १।३।२०
२१०. उत्त० ३।१०   २११. उत्त० २९।३   २१२ उत्त० १०।१९

२०४

धर्म-तत्त्व मे श्रद्धा होना अत्यन्त दुर्लभ है।

२०५

नही देखने वालो! तुम देखनेवालो की बात पर विश्वास करते हुए चलो।

२०६

साधना मे वही व्यक्ति सशय करता है जो कि मार्ग मे ही रुक जाना चाहता है।

२०७

धर्म-श्रद्धा हमे रागासक्ति से मुक्त कर सकती है।

२०८

शकाशील व्यक्ति को कभी समाधि—शान्ति नही मिलती।

२०९

जिस श्रद्धा से दीक्षा धारण की है उसी श्रद्धा के साथ शकादि घातक दुर्गुणो को छोड कर साधुजीवन की सम्यक् परिपालना करनी चाहिए।

२१०

श्रुति और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी सयम मार्ग मे वीर्य-पुरुषार्थ होना अत्यन्त कठिन है। बहुत से लोग श्रद्धासम्पन्न होते हुए भी सयममार्ग मे प्रवृत्त नही होते।

२११

धर्म श्रद्धा से वैषयिक सुखो की आसक्ति छोड कर यह जीव वैराग्य को प्राप्त कर लेता है।

२१२

उत्तम धर्म को सुन लेने के बाद भी, उस पर श्रद्धा होना और भी दुर्लभ है।

तप

२१३

सउणी जह पसुगुडिया, विहुणिय धसयइ सिय रय ।
एव दविओवहाणव कम्म खवइ तवस्सि माहणे ।।

२१४

एगमप्पाण सपेहाए धुणे सरीरग ।

२१५

खवेत्ता पुव्वकम्माइ, सजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमति महेसिणो ।।

२१६

तवनारायजुत्तेण, भित्तूण कम्मकचुय ।

२१७

देहदुक्ख महाफल ।

२१८

भव कोडिय सचिय कम्म, तवसा णिज्जरिज्जइ ।

२१९

वल थाम च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो ।
खेत्त कालं च विन्नाय, तहप्पाण, निजुजए ।।

२२०

नो पूयण तवसा आवहेज्जा ।

---

२१३ सूत्र० २।१।१५ २१४. आचा० १।४।२ २१५ उत्त० २८।३६
२१६. उत्त० ६।२२ २१७ दश० ८।२७ २१८ उत्त० ३०।६
२१९ दश० ८।३५ २२० सूत्र० १।७।२७

तप

२१३

जिस प्रकार शकुनी नामका पक्षी अपने परो को फड-फडा कर उन पर लगी हुई धूल को झाड देता है उसी प्रकार तपस्या के द्वारा मुमुक्षु अपने आत्म-प्रदेशो पर लगी हुई कर्मरज को दूर कर देता है।

२१४

आत्मा को शरीर से विलग जान कर भोग-लिप्त शरीर को तपश्चर्या के द्वारा धुन डालना चाहिए।

२१५

समस्त दु खो से मुक्ति चाहनेवाले महर्षि सयम और तप के द्वारा अपने पूर्वसचित कर्मों का क्षय कर परम सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

२१६

तप रूपी लोह वाण से युक्त धनुप के द्वारा कर्मरूपी कवच को भेद डालें।

२१७

देह का दमन एक तप है और वह महान् फलवाला है।

२१८

करोडो-भवो के सचित कर्म तपश्चर्या के द्वारा निजीर्ण-नष्ट हो जाते हैं।

२१९

अपने वल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर क्षेत्र और काल को पहचान कर शक्ति के अनुसार अपनी आत्मा को तप आदि के अनुष्ठान मे नियुक्त करे।

२२०

तप के द्वारा साधक को पूजा—प्रतिष्ठा की अभिलापा नही करनी चाहिए।

२२१

असिधारागमण चेव, दुक्कर चरिउ तवो ।

२२२

छन्द निरोहेण उवेइ मोक्ख ।

२२३

सक्ख खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई ।

२२४

कसेहि अप्पाण, जरेहि अप्पाण ।

२२५

अणण्हये तवे चेव ।

२२६

सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरब्भन्तरो तहा ।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥

२२७

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो सलीणया य, वज्झो तवो होइ ॥

२२८

पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ ।
झाण च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो ॥

२२९

तवेण परिसुज्झई ।

२३०

तवेण वोदाण जणयई ।

---

२२१ उत्त० १९।३७
२२२. उत्त० ४।८
२२३ उत्त० १२।३७
२२४. आचा० १।४।३।५
२२५. भग० २।५
२२६ उत्त० ३०।७
२२७ ३०।८
२२८ उत्त० ३०।३०
२२९. उत्त० २८।३५
२३०. उत्त० २९।२७

२२१

तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

२२२

इच्छानिरोध-तप से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

२२३

तप की महिमा तो प्रत्यक्ष मे दिखलाई देती है, किन्तु जाति की महिमा तो कोई नजर नही आती हैं।

२२४

तप के द्वारा अपने को कृश करो, अपने को जीर्ण करो, भोग-वृत्ति को जर्जर करो।

२२५

तप से पूर्व-बद्ध कर्मों का नाश करो।

२२६

तप दो प्रकार का बतलाया है—बाह्य और आभ्यतर। बाह्य तप छ प्रकार का कहा है, इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छ प्रकार का है।

२२७

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, काय-क्लेश और प्रति सलीनता ये बाह्य तप के छ भेद है।

२२८

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—ये आभ्यन्तर तप के छ भेद हैं।

२२९

तप से आत्मा का शुद्धिकरण होता है।

२३०

तप से व्यवदान—पूर्व-कर्मो का क्षय कर आत्माशुद्धि प्राप्त करता है।

भावना

२३१

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले नावा व आहिया ।
नावा वि तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई ।।

२३२

तहि तहि सुयक्खाय, से य सच्चे सुआहिए ।
सया सच्चेण सम्पन्ने, मेत्ति भूएहि कप्पए ।।

२३३

जम्म दुक्ख जरा दुक्ख, रोगाय मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो ।।

२३४

इम सरीर अणिच्च, असुई असुइसभव ।
असासयावासमिण, दुक्खकेसाणभायण ।।

२३५

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह वन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मय नाणुव्वयन्ति य ।।

२३६

सव्व जग जइ तुह, सव्व वावि धण भवे ।
सव्व पि ते अपज्जत्त नेव ताणाय त तव ।।

---

२३१ सूत्र० १।१५।६   २३२. सूत्र० १।१५।३   २३३. उत्त० १९।१५
२३४ उत्त० १९।१२   २३५ उत्त० १८।१४   २३६ उत्त० १४।३९

भावना

२३१

जिस साधक की अन्तरात्मा भावनायोग से विशुद्ध होती है, वह जल मे नौका के समान ससार सागर से तिर कर सर्व दु खो से मुक्त बन, परम सुख को प्राप्त करता है ।

२३२

वीतराग प्रभु ने जो-जो भाव कहे हैं वे वास्तव मे यथार्थ हैं । जिसका अन्तरात्मा सदा सत्य भावो से ओतप्रोत है वह समस्त जीवो के प्रति मैत्री-भाव रखता है ।

२३३

जन्म दु ख है, बुढापा दु ख है, रोग दु ख है, और मृत्यु दु ख है ! अहो ! यह ससार ही दु खमय है, जिस मे जीव अनेकानेक क्लेश पा रहे है ।

२३४

यह शरीर अनित्य है, और अशुचि है । अशुचि से ही इस की उत्पत्ति हुईहै । आत्मा का यह अशाश्वत-आवास-गृह है । तथा दु ख और क्लेशो का भाजन है ।

२३५

स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धव सब जीवित व्यक्ति के साथी है, मरने पर कोई भी साथ नही निभाता ।

२३६

यदि समस्त ससार तुम्हे प्राप्त हो जाय अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाय तब भी तुम्हारी इच्छापूर्ति के लिए वह अपर्याप्त ही होगा, और वह तुम्हे शरण भी नही दे सकेगा ।

२३७

गब्भाइ मिज्जति बुयाबुयाणा,
णरा परे पचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम-थेरगा य,
चयति ते आउक्खए पलीणा ॥

२३८

अब्भागमियम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमिए भवन्तिए।
एगस्स गई य आगई, विदुमन्ता सरण न मन्नई ॥

२३९

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ, असार अवउज्झइ ॥
एव लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाण तारइस्सामि, तुब्भेहि अणुमन्निओ।

२४०

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति,
दुम जहा खीणफल व पक्खी ॥

२४१

तिउईट्ट उ मेहावी, जाण लोगसि पावग।
तुट्टति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ ॥

२४२

वित्त पसवो व नाइओ, त वाले सरण ति मन्नई।
एए मम तेसु वि अह नो ताण सरण न विज्जई ॥

---

२३७ सूत्र० १।७।१० २३८ सूत्र० १।२।३।१७ २३९. उत्त० १९।२२-२३
२४० उत्त० १३।२१ २४१. सूत्र० १।१५।६ २४२. सूत्र० १।२।३।१६

२३७

कितने ही प्राणी गर्भावस्था मे, कितने ही दूध पीते शिशु अवस्था मे, तो कितने ही पच-शिख कुमारो की अवस्था मे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। फिर कितने ही युवा, प्रौढ और वृद्ध होकर मरते हैं। इस प्रकार आयुष्य क्षय होने पर जीव अपना देह छोड देता है।

२३८

कष्ट आने पर जीव को अकेला ही भोगना पडता है, अथवा आयुष्य-क्षय होने से पर-भव मे अकेला ही जाना होता है, अत विवेकी पुरुप स्वजन सम्वन्धी को शरणरूप नही समझता।

२३९

जैसे घर मे आग लग जाने पर गृहपति मूल्यवान वस्तुओ को निकाल लेता है और मूल्यहीन वस्तुओ को छोड देता है। उसी प्रकार मै भी आप की आज्ञा प्राप्त कर जरा और मृत्यु की अग्नि से प्रज्वलित इस ससार मे अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा।

२४०

जीवन व्यतीत हो रहा है, रात्रियाँ दौडी जा रही है, मनुष्य के तुच्छ भोग भी अशाश्वत है। जैसे पक्षी क्षीण फलवाले वृक्ष को छोड कर चले जाते हैं, उसी तरह काम-भोग मनुष्य को छोड देते हैं।

२४१

पाप कर्म के स्वरूप को जाननेवाला मेधावी पुरुष ससार मे रहता हुआ भी पाप से मुक्त हो जाता है। जो पुरुष नवीन कर्मो का उपार्जन नही करता उसके सभी पाप कर्म मुक्त हो जाते हैं।

२४२

अज्ञानी मनुष्य ऐसा मानता है कि धन, पशु और जातिवाले मेरा रक्षण करेंगे। वे "मेरे है" "मैं उनका हूँ" परन्तु इस प्रकार उन्हे अन्त मे त्राण तथा शरण देनेवाला कोई नही मिलता।

२४३

जहेह सीहो व मिय गहाय,
मच्चू नर नेइ हु अतकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मिऽसहारा भवंति ॥

२४४

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारण ज च करेइ कम्म ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बधवा बधवय उवेन्ति ॥

२४५

वेया अहीया न भवति ताण,
भुत्ता दिया निंति तम तमेण ।
जाया य पुत्ता न हवति ताण,
को नाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥

२४६

चिच्चा दुपय च चउप्पय च,
खेत्त गिह धण-धन्न च सव्व ।
अम्मप्पवीओ अवसो पयाइ,
पर भव सुन्दर-पावगं वा ॥

२४७

भावसच्चेण भावविसोहिं जणयई ।

२४८

भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहन्त-
पन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ ।

---

२४३ उत्त० १३।२२ २४४. उत्त० ४।४ २४५. उत्त० १४।१२
२४६. उत्त० १३।२४ २४७. उत्त० २९।५० २४८. उत्त० २९।५०

२४३

जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड कर ले जाता है उसी प्रकार अन्त-काल मे मृत्यु भी मनुष्य को ले जाती है। उस समय माता-पिता व भाई आदि कोई भी अपने जीवन का भाग दे कर उन्हे बचा नही सकते।

२४४

ससारी प्राणी अपने प्रिय-बन्धुजनो के लिए बुरे से बुरे कर्म भी कर डालता है, किन्तु जब उस कर्म का दुष्फल भोगने का समय आता है, तब वह अकेला ही भोगता है, उस समय वे बन्धु-जन बन्धुता नही दिखाते, उस का भाग नही बँटाते।

२४५

पढे हुए वेद तुम्हारा सरक्षण नही कर सकते, भोजन कराये हुए द्विज भी अन्धकार मे ले जाते हैं, तथा पुत्र भी रक्षा नही कर सकते ऐसी स्थिति मे कौन विवेकशील पुरुष इन्हे स्वीकार करेगा ?

२४६

ये पराधीन आत्मा द्विपद-दास-दासी, चतुष्पद-घोडा-हाथी, खेत, घर, धन-धान्य आदि सब कुछ छोड कर केवल अपने किये कर्मों को साथ लेकर अच्छे या बुरे परभव (जन्म) मे चला जाता है।

२४७

भाव सत्य से आत्मा भाव-विशुद्धि को प्राप्त करता है।

२४८

भाव-विशुद्धि मे वर्तमान जीव अर्हत्-प्ररूपित धर्म की आराधना के लिये समुद्यत होता है।

२४९

खेत्त वत्थु हिरण्ण च, पुत्तदारं च बन्धवा ।
चइत्ता ण इम देह, गन्तव्वमवसस्स मे ॥

२५०

वित्त सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ ।

---

२४९ उत्त० १९।१७ २५०. सूत्र० १।१।१।५

२४९

मनुष्य को हमेशा यह चिन्तन करना चाहिए कि भूमि, घर, सोना, पुत्र, स्त्री, वान्धव और इस शरीर आदि सभी को छोड कर मुझे एक दिन अवश्य जाना पडेगा ।

२५०

धन, धान्य, कुटुम्ब, सम्बन्धी आदि कोई भी जीवात्मा को ससार परिभ्रमण से वचा नही सकते ।

साधना

२५१

जं मे तव-नियम-सजम-सज्झाय-झाणाऽवस्सय-
मादीएसु जोगेसु जयणा, से त्त जत्ता ।

२५२

वाहार्हि सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ।

२५३

अहीवेगन्तदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे ।

२५४

जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्कर ।

२५५

झाणजोग समाहट्टु, काय विउसेज्ज सव्वसो ।

२५६

अणुवओगो दव्व ।

---

२५१. भग० १८।१० २५२. उत्त० १९।३७ २५३ उत्त० १९।३९
२५४ उत्त० १९।३९ २५५. सूत्र० १।८।२६ २५६. अनु० १३

साधना

२५१

तप नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि मे जो यतना-पूर्वक प्रवृत्ति है, वही मेरी वास्तविक यात्रा—साधना है ।

२५२

जैसे भुजाओ से सागर तैरना कठिन है वैसे ही सद्‌गुणो की साधना का कार्य कठिन है ।

२५३

सर्प जैसे एकाग्र-दृष्टि से चलता है वैसे एकाग्र-दृष्टि से चारित्र धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है ।

२५४

जैसे लोहे के जवो को चबाना कठिन है वैसे ही सयम-साधना का पालन भी कठिन है ।

२५५

मेधावी पुरुष ध्यान योग को स्वीकार करे और देह भावना का सर्वथा विसर्जन करे ।

२५६

उपयोग (विवेक) शून्य साधना केवल द्रव्य है, भाव नही ।

●

समभाव

२५७

सव्व जग तू समयाणुपेही,
पियमप्पिय कस्स वि नो करेज्जा ।

२५८

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥

२५९

सामाइयमाहु तस्स ज,
जो अप्पाण भए ण दसए ।

२६०

लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा ।

२६१

जोविय नाभिकखिज्जा, मरण नो वि पत्थए ।
दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा ॥

२६२

नो उच्चावय मण नियछिज्जा ।

२६३

वियाणिया अप्पगमप्पएण,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ।

२६४

समय सया चरे ।

२६५

समता सव्वत्थ सुव्वए ।

---

२५७ सूत्र० १।१०।६ २५८ आचा० १।२।६ २५९. सूत्र० १।२।२।१७
२६०. आचा० १।२।५ २६१. आचा० १।८।८।४ २६२. आचा० २।३।१
२६३ दश० ९।३।११ २६४ सूत्र० २।२।३ २६५ सूत्र० २।३।१३

समभाव

२५७

जो साधक सम्पूर्ण विश्व को समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है, और न किसी का अप्रिय ही ।

२५८

धर्मोपदेष्टा जिस प्रकार पुण्यवान्-धनवान् को उपदेश देता है उसी प्रकार तुच्छ-दीन, दरिद्र को भी उपदेश देता है और जिस प्रकार तुच्छ को उपदेश देता है उसीप्रकार पुण्यवान् को भी ।

२५९

समभाव वही साधक रख सकता है जो अपने आप को हर किसी भय से विलग रखता है ।

२६०

साधक मिलने पर गर्व न करे और न मिलने पर शोक न करे ।

२६१

सलेखना मे स्थित साधक न जीने की अभिलाषा करे और न मरने की कामना करे । वह जीवन और मरण किसी मे भी आसक्त न होता हुआ समभाव मे रहे ।

२६२

सकट की घडियो मे भी मन को ऊँचा-नीचा अर्थात् डाँवा-डोल नही होने देना चाहिए ।

२६३

जो साधक आत्मा को आत्मा से जानकर राग-द्वेष के प्रसगो मे सम रहता है, वही पूज्य है ।

२६४

साधक को सदा समता का आचरण करना चाहिए ।

२६५

सुव्रती को सर्वत्र समता-भाव रखना चाहिए ।

सम्यग्दर्शन

२६६

सम्मदसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे वोही ।।

२६७

इओ विद्धसमाणस्स, पुणो सवोहि दुल्लहा ।

२६८

सम्मत्तदसी ण करेई पाव ।

२६९

निस्सग्गुवएसरूई, आणारूई सुत्तवीअरूइमेव ।
अभिगम-वित्थाररूई, किरिया-सखेव-धम्मरूई ।।

२७०

निस्सकिया-निक्कखियनिव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ।।

२७१

नादसणिस्स नाण,
नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ।।

---

२६६. उत्त० ३६।२५८ २६७ सूत्र० १।१५।१८ २६८ आचा० ३।२
२६९ उत्त० २८।१६ २७० उत्त० २८।३१ २७१ उत्त० २८।३०

सम्यग्दर्शन

२६६

जो जीव सम्यग्दर्शन मे अनुरक्त है, सासारिक फल की कामना से रहित है तथा शुक्ललेश्या मे प्रवर्तमान है, वे जीव उसी भावना मे मरकर परलोक मे सुलभवोधि होते हैं।

२६७

जो जीव सम्यक्त्व से पतित होकर मरता है उसे पुन धर्म-वोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

२६८

सम्यक्त्वधारी साधक पाप-कर्म नही करता।

२६९

जीव को दस प्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है—निसर्ग-रुचि, उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, वीज-रुचि अभिगम-रुचि विस्तार-रुचि, क्रिया-रुचि, सक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि।

२७०

सम्यक्त्व के आठ अग इस प्रकार हैं—
नि शका, निष्काक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टि, उपवृ हण (सम्यक् दर्शन की पुष्टि) स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

२७१

सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान नही होता, ज्ञान के विना चारित्र के गुण नही होते, गुणो के बिना मुक्ति नही होती और मुक्ति के विना निर्वाण—शाश्वत आत्मानन्द प्राप्त नही होता।

२७२

नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण ।

२७३

सम्मग्ग तु जिणक्खाय, एस मग्गे हि उत्तमे ।

२७४

दिट्ठीए दिट्ठिसपन्ने धम्म चर सुदुच्चर।

२७५

दसणसपन्नयाए ण भवमिच्छत्त-
छेयण करेइ, पर न विज्झायइ ।
अणुत्तरेण नाणदसणेण अप्पाण,
सजोएमाणे सम्म भावेमाणे विहरइ ।।

२७६

जे अवुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदसिणो ।
असुद्ध तेसि परक्कत, सफल होइ सव्वसो ।।

२७७

जे य वुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदसिणो ।
सुद्ध तेसि परक्कत, अफल होइ सव्वसो ।।

२७८

वुज्झमाणाण पाणिण, किच्चताण सकम्मुणा ।
आघाति साहु त दीव, पतिट्ठे सा पवुच्चइ ।।

---

२७२. उत्त० २८।२९ २७३ उत्त० २३।६३ २७४ १८।३३
२७५ उत्त० २९।६० २७६ सूत्र० १।८।२२ २७७ सूत्र० १।८।२३
२७८ सूत्र० ११।२३

२७२

सम्यक्त्व के अभाव मे चारित्र-गुण की प्राप्ति नही होती।

२७३

जो राग-द्वेष को जीतनेवाले हैं, जिन ने जो कहा है वही सर्वोत्तम मार्ग है, ऐसा जिसका अटल विश्वास है वही सम्यक् श्रद्धावान् है।

२७४

सम्यग्दृष्टि के द्वारा दृष्टिसम्पन्न होकर साधक सुदुश्चर धर्म का आचरण करे।

२७५

दर्शन सम्पन्नता से यह जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, जो ससार के हेतुभूत मिथ्यात्त्व का उच्छेद कर देनेवाला है। उससे आगे उसकी प्रकाश शिखा बुझती नही, वह उत्तरोत्तर ज्ञान और दर्शन को आत्मा से सयोजित करता है, तथा उन्हे सम्यक प्रकार से आत्म-सात् करता हुआ विचरण करता है।

२७६

सम्यग्दर्शन से रहित परमार्थ को न जाननेवाले ऐसे विश्रुत यशस्वी वीर पुरुषो का पराक्रम अशुद्ध है, वे सभी तरह से ससार की वृद्धि करने मे सफल होते हैं।

२७७

सम्यग्दर्शन से सम्पन्न तथा परमार्थ के ज्ञाता ऐसे विश्रुत यशस्वी वीर पुरुषो का पराक्रम शुद्ध है। वे दु ख रूप ससार की वृद्धि मे सर्वथा निष्फल रहते हैं।

२७८

मिथ्यात्वादि के प्रवाह मे बहते हुए तथा अपने पाप कर्मों के द्वारा कष्ट पाते हुए प्राणियो के लिए सम्यग्दर्शन द्वीप के समान विश्राम स्थल है। तत्त्वज्ञो का कथन है कि सम्यग्दर्शन से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

वीतराग-भाव

२७६

एविंदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउ मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥

२८०

समो य जो तेसु स वीयरागो ।

२८१

न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।

२८२

समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा,
तवो य पन्ना य जस्सो य वड्ढइ ।

२८३

अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मणि जावए ।

२८४

वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि,
तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदई ।

२८५

विमुत्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो ।

---

२७९ उत्त० ३२।१०० २८०. उत्त० ३२।६१ २८१ उत्त० ३२।४७
२८२ आचा० २।४।१६।१४० २८३ सूत्र० १।१।४।२ २८४ उत्त० २९।४५
२८५ आचा० १।२।२

वीतराग-भाव

२७९

इन्द्रिय और मन के विषय रागात्मक-मनुष्य के लिए ही दुःख के हेतु वनते हैं, वीतराग के लिए वे किञ्चित् भी दुःखदायी नही बन सकते।

२८०

जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसो मे समान रहता है। वह वीतराग होता है।

२८१

जो आत्मा विपयो से निरपेक्ष है वह ससार मे रहता हुआ भी जल मे कमलिनी पत्र के समान अलिप्त रहता है।

२८२

अग्नि-शिखा की तरह प्रदीप्त एव ज्योतिर्मय रहनेवाले अन्तर्द्रष्टा साधक के तप, प्रज्ञा और यश-निरन्तर अभिवृद्धि प्राप्त करते रहते है।

२८३

अहकार रहित एव अनासक्तियोग से मुनि को राग-द्वेष के प्रसग उपस्थित होने पर मध्यस्थ यात्रा करनी चाहिए।

२८४

वीतराग-भाव से स्नेह के अनुबन्धनो और तृष्णा के अनुबन्धनो का विच्छेद हो जाता है।

२८५

जो साधक कामनाओ पर विजय पा गये हैं वे वस्तुत मुक्त पुरुप हैं।

२८६

अणोमदसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं ।

२८७

किमत्थि उवाही पासगस्स न विज्जइ ?—नत्थि ।

२८८

से हु चक्खू मणुस्साण, जे कखाए य अन्तए ।

२८९

कामी कामे न कामए, लद्धे वावि अलद्धं कण्हुई ।

२९०

सोयस्स सद्द गहण वयति, त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।।

२९१

चक्खुस्स रूव गहण वयति, त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।

२९२

घाणस्स गध गहण वयंति, त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।।

२९३

जिब्भाए रस गहण वयति, त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेमु स वीयरागो ।।

---

२८६ आचा० १।३।२ २८७ आचा० १।३।४ २८८ सूत्र० १।१५।१४
२८९ सूत्र० १।२।३।६ २९० उत्त० ३२।३५ २९१ उत्त० ३२।२२
२९२ उत्त० ३२।४८ २९३ उत्त० ३२।६१

२८६

पावन दृष्टिवाला साधक पाप कर्म से विलग रहता है ।

२८७

वीतराग सत्य द्रष्टा के .लिए कोई उपाधि होती है या नही ? नही होती है ।

२८८

जिस साधक ने अभिलाषा-आसक्ति को नष्ट कर दिया है, वह मनुष्यो के लिए मार्ग-दर्शक चक्षु रूप है ।

२८९

साधक सुखाभिलाषी बन काम-भोगो की कामना न करे, और प्राप्य भोगो के प्रति भी अप्राप्य-निस्पृह भाव रखे ।

२९०

श्रोत्र का विषय शब्द है । जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है । जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दो मे समदृष्टि रखता है वही वीत-राग होता है ।

२९१

चक्षु का विषय रूप है । जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा है । जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपो मे समान रहता है वही वीतराग होता है ।

२९२

घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है । जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है । जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ दोनो मे समदृष्टि रखता है वही वीत-राग होता है ।

२९३

रसनेन्द्रिय का विषय रस है । जो रस राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है । जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसो मे समदृष्टि रखता है । वही वीतराग होता है ।

२९४

कायस्स फास गहण वयति,
त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ।

२९५

निम्ममो निरहकारो, वीयरागो अणासवो ।
सपत्ते केवल नाण, सासय परिणिव्वुए ॥

२९६

वीयरागभाव पडिवन्ने वि य ण,
जीवे समसुहदुक्खे भवइ ।

२९७

अणिहे से पुट्ठे अहियासए ।

---

२९४ उत्त० ३२।७४ २९५. उत्त० ३५।२१ २९६. उत्त० २९।३६
२९७ सूत्र० २।१।१३

२९४

स्पर्शेन्द्रिय का विषय स्पर्श है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, और जो द्वेप का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शो मे समदृष्टि रखता है वही वीतराग कहलाता है।

२९५

निर्मम, निरहकार, वीतराग और आश्रवो से रहित निर्ग्रन्थ मुनि, शाश्वत केवलज्ञान को प्राप्त कर परिनिवृत्त हो जाता है अर्थात् पूर्णतया आत्मस्थ हो जाता है।

२९६

वीतराग-भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दु ख मे सम हो जाता है।

२९७

आत्मविद् साधक को नि स्पृह होकर आनेवाले कष्टो को सहन करना चाहिए।

●

लेश्या-स्वरूप

२९८

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाइ तु जहक्कम ॥

२९९

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइ उववज्जइ ॥

३००

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइ उववज्जइ ।

३०१

जीमूयनिद्धसकासा, गवलरिट्ठगसन्निभा ।
खजाजणनयणनिभा, किण्हलेसा उ वण्णओ ॥

३०२

नीलासोगसकासा, चासपिच्छसमप्पभा ।
वेरुलियनिद्धसकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥

३०३

अयसी पुप्फसंकासा, कोइलच्छदसन्निभा ।
पारेवयगीवनिभा, काऊलेसा उ वण्णओ ॥

३०४

हिगुलधाउ संकासा, तरुणाइच्चसन्निभा ।
सुयतुड पई वनिभा, तेओलेसा उ वण्णओ ॥

३०५

हरियालभेय सकासा, हलिद्दाभेय समप्पभा ।
साणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥

३०६

सखक कुद सकासा, खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥

---

२९८ उत्त० ३४।३ २९९ उत्त० ३४।५६ ३०० उत्त० ३४।५७
३०१ उत्त० ३४।४ ३०२ उत्त० ३४।५ ३०३ उत्त० ३४।६
३०४ उत्त० ३४।७ ३०५ उत्त० ३४।८ ३०६ उत्त० ३४।९

लेश्या-स्वरूप

२९८

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल ये छ लेश्याओ के क्रमश नाम हैं।

२९९

कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अधर्म लेश्याएँ हैं। इन तीनो लेश्याओ वाला जीव दुर्गति मे उत्पन्न होता है।

३००

तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन धर्म लेश्याएँ है। इन तीनो लेश्याओ वाला जीव सद्गति मे उत्पन्न होता है।

३०१

कृष्ण लेश्या का वर्ण जल युक्त मेघ, महिप-शृङ्ग, द्रोण-काक, खजन, अजन और नेत्र तारा के समान कृष्ण होता है।

३०२

नील लेश्या का वर्ण नील अशोक वृक्ष, चास पक्षी की पख और स्निग्ध वैडूर्यमणि के समान नील होता है।

३०३

कापोत लेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, कोयल के पख और कबूतर की ग्रीवा के समान कत्थई होता है।

३०४

तेजो लेश्या का वर्ण हिंगुल, गेरू, नवोदित सूर्य, तोते की चोच और प्रदीप की लौ के समान रक्त होता है।

३०५

पद्मलेश्या का वर्ण हरिताल, हलदी के टुकडे, तथा सण और असन के पुष्प के समान पीला होता है।

३०६

शुक्ल लेश्या का वर्ण शख, अकमणि, कन्द-पुष्प दुग्धधारा, चांदी व मुक्तहार के समान श्वेत उज्ज्वल होता है।

तत्व-स्वरूप

३०७

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥

३०८

गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥

३०९

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥

३१०

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥

३११

सद्दऽन्धयार-उज्जोओ, पहा छाया ऽऽतवे इ वा ।
वण्ण-रस-गंध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥

३१२

जीवाऽजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥

३१३

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥

---

३०७. उत्त० २८।७ ३०८ उत्त० २८।९ ३०९. उत्त० २८।१०
३१० उत्त० २८।११ ३११ उत्त० २८।१२ ३१२ उत्त० २८।१४
३१३ उत्त० २८।१५

तत्व-स्वरूप

३०७

केवलदर्शी जिनेन्द्रो ने इस लोक को, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव-इस प्रकार से षड्द्रव्य रूप प्रतिपादन किया है।

३०८

धर्मद्रव्य गति लक्षण वाला है, जब कि अधर्म द्रव्य स्थिति लक्षण वाला है, और आकाश द्रव्य अवकाश लक्षणवाला है। यह सर्व द्रव्यो के रहने का भाजन है।

३०९

वर्तना काल का लक्षण है, उपयोग जीव का लक्षण है, वह ज्ञान, दर्शन सुख और दुःख से जाना जाता है।

३१०

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग-ये सब जीव के लक्षण हैं।

३११

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ये पुद्गल के लक्षण है।

३१२

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तथ्य-तत्त्व हैं।

३१३

जीवादिक तथ्य पदार्थों के अस्तित्त्व के विषय मे जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व होता है, उस अन्तःकरण की श्रद्धा को ही सम्यक्त्व कहा है।

३१४

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा ।
एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गइ ।।

३१५

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ।।

३१६

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ।।

३१७

एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ।।

३१८

एसा पवयणमाया, जे सम्म आयरे मुणी ।
से खिप्प सव्वससारा, विप्पमुच्चइ पडिए ।।

३१९

अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ,
नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ ।

३२०

अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव सवरइ ।

---

३१४ उत्त० २८।३ ३१५ उत्त० २४।१ ३१६ उत्त० २४।२
३१७ उत्त० २४।२६ ३१८. उत्त० २४।२७ ३१९ भग० १।३
३२० भग० १।३

३१४

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इस मार्ग को ग्रहण करनेवाले जीव सुगति को प्राप्त होते है ।

३१५

पाँच समिति और तीन गुप्ति-ये आठ प्रवचन माताएँ कहलाती है ।

३१६

ईर्या-समिति, भाषा समिति, एषणा-समिति, आदान-निक्षेपण समिति और उच्चार-समिति-ये पाँच समितियाँ है। तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति-ये तीन गुप्तियाँ है। इस प्रकार दोनो मिल कर अष्ट प्रवचन-माताएँ हैं।

३१७

ये पाँच समितियाँ चारित्र की दया आदि प्रवृत्तियो मे काम आती है और तीन गुप्तियाँ सब प्रकार अशुभ-विषयो से निवृत्त होने मे सहायक बनती हैं।

३१८

जो पण्डितमुनि उक्त अष्ट-प्रवचन माताओ का सम्यक् प्रकार से पालन करता है। वह इस विराट ससार से सदा के लिए शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

३१९

अस्तित्त्व, अस्तित्त्व मे परिणत होता है और नास्तित्त्व-नास्तित्त्व मे परिणत होता है। अर्थात् सत्-सत् के रूप मे रहता है और असत् असत् के रूप मे।

३२०

आत्मा अपने द्वारा किये हुए कर्मों की उदीरणा स्वय करता है। अपने द्वारा ही स्वय उनकी गर्हा-आलोचना करता है। तथा अपने द्वारा ही कर्मो का सवर-आश्रव का निरोध करता है।

३२१

जीवाण चेयकडा कम्मा कज्जति,
नो अचेयकडा कम्मा कज्जति ।

३२२

अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ ।
अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ॥

३२३

सरीर सादिय सनिधण ।

३२४

जीवा सिय सासया, सिय असासया ।
....दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया ॥

३२५

जीवा णो वड्ढति, णो हायति, अवट्ठिया ।

३२६

करणओ सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा ।

३२७

जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे ।

३२८

नो य उप्पज्जए अस ।

३२९

सुरूवा वि पोग्गला, दुरूवत्ताए परिणमति,
दुरूवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमति ।

---

३२१ भग० १६।२ ३२२ भग० १।९ ३२३ प्रश्न० १।२
३२४. भग० ७।२ ३२५. भग० ५।८ ३२६ भग० १।१०
३२७ भग० ६।१० ३२८ सूत्र० १।१।१।१६ ३२९ ज्ञाता० १।१२

३२१

आत्माओ के कर्म चेतना-कृत है, अचेतना-कृत नही ।

३२२

अस्थिर हमेशा बदलता है, स्थिर कभी नही बदलता ।
अस्थिर हमेशा टूट जाता है, स्थिर कभी नही टूटता ।

३२३

शरीर का आदि भी है और अन्त भी है ।

३२४

जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी ।
द्रव्य दृष्टि से शाश्वत है और भाव-दृष्टि से अशाश्वत ।

३२५

जीव न कभी बढते हैं और न कभी घटते हैं। बल्कि सदा अवस्थित रहते हैं ।

३२६

कोई भी क्रिया किये जाने पर ही सुख, दु ख का कारण बनती है, न किये जाने पर कभी नही ।

३२७

जो जीव हैं वह निश्चित ही चैतन्य है और जो चैतन्य है वह निश्चित ही जीव है ।

३२८

जो असत् है वह कभी सत् रूप मे उत्पन्न नही होता ।

३२९

सुन्दर पुद्गल कुरूपता मे परिणत होते रहते हैं और कुरूप पुद्गल सुन्दरता मे ।

३३०

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाजीवे वियाणतो, सोहु नाहीइ सजम ॥

३३१

सामाइयत्थ पढम, छेदोवट्ठावण भवे वीय ।
परिहारविसुद्धीय, सुहुम तह सपराय च ॥
अकसाय महक्खाय, छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एय चयरित्तकर, चारित्त होइ आहिय ॥

३३२

समुप्पायमजाणता, कह नायति सवर !

---

३३० दश० ४।१३ ३३१ उत्त० २८।३२।३३ ३३२ सूत्र० १।१।३।१०

३३०

जो जीव को भी जानता है, अजीव को भी जानता है। जीव-अजीव के स्वरूप को जाननेवाला साधक सयम के स्वरूप को भी जान सकता है।

३३१

[१] सामायिक, [२] छेदोपस्थापनीय, [३] परिहार विशुद्धि, [४] सूक्ष्मसपराय तथा [५] कषायरहित यथाख्यातचारित्र [जो छद्मस्थ या जिन को प्राप्त होता है] ये सर्व कर्मो की राशि को रिक्त-क्षय करनेवाले चारित्र के पाँच भेद है।

३३२

जो दु खोत्पत्ति के कारण को नही समझता। वह उस के निरोध का कारण कैसे जान सकेगा।

आत्मा

३३३

जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ ।
जे सव्व जाणइ, से एग जाणइ ।।

३३४

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नदन वण ।।

३३५

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरन्ति महेसिणो ।।

३३६

पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ,
एव दुक्खा पमोक्खसि ।

३३७

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ।।

३३८

वर मे अप्पा दन्तो सजमेण तवेण य ।
माऽह परेहि दम्मन्तो, बधणेहि वहेहि य ।।

---

३३३ आचा० १।३।४ ३३४ उत्त० २०।३६ ३३५ उत्त० २३।७३
३३६ आचा० ३।३।११९ ३३७ उत्त० १।१५ ३३८. उत्त० १।१६

आत्मा

३३३

जो एक को जानता है, वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वह एक को जानता है ।

३३४

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही काम-दूधा-धेनु है और आत्मा ही नन्दनवन है ।

३३५

शरीर को नौका कहा गया है, आत्मा को नाविक कहा गया है, और ससार को समुद्र कहा गया है । महान् मोक्ष की एषणा करनेवाले महर्षिगण इसे तैर जाते हैं ।

३३६

हे पुरुष ! तू अपने आप का निग्रह कर, स्वय के निग्रह से ही तू समस्त दु खो से मुक्त हो जायगा ।

३३७

आत्मा का ही दमन करना चाहिए क्योकि आत्मा दुर्दम्य है । उस का दमन करने वाला इहलोक और परलोक मे सुखी होता है ।

३३८

दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें, इसकी अपेक्षा यही अच्छा है की मैं स्वय सयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ ।

३३९

वन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव ।

३४०

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाण, जइत्ता मुहमेहए ॥

३४१

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च, दुपट्ठिअ सुप्पट्ठिओ ॥

३४२

जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया ।
जेण वियाणइ से आया, त पडुच्च पडिसखाए ॥

३४३

जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे ।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥

३४४

न तं अरी कठछेत्ता करेइ- ज से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

३४५

पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

३४६

अन्नो जीवो, अन्न सरीर ।

---

३३९. आचा० १।५।२ ३४०. उत्त० ९।३५ ३४१. उत्त० २०।३७
३४२. आचा० १।५।५ ३४३ उत्त० ९।३४ ३४४ उत्त० २०।४८
३४५ आचा० ३।३।१० ३४६ सूत्र० २।१।९

३३९

वस्तुत बन्धन और मोक्ष अपने भीतर ही है।

३४०

आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी दुश्मनो के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर मनुष्य सच्चा सुख पा सकता है।

३४१

आत्मा ही सुख-दु ख करने वाली तथा उनका नाश करनेवाली है। सत् प्रवृत्ति मे लगी हुई आत्मा ही मित्ररूप है जब कि दुष्प्रवृत्ति मे लगी हुई आत्मा ही शत्रु रूप हैं।

३४२

जो आत्मा है वह विज्ञाता है जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जिससे जाना जाय वह आत्मा है, जानने की शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति है।

३४३

जो पुरुप दुर्जय-सग्राम मे दम लाख योद्धाओ पर विजय प्राप्त करे, उसकी अपेक्षा वह एक अपने आप को जीतता है यह उसकी परम विजय है।

३४४

दुराचार मे प्रवृत्त आत्मा जितना हमारा अनिष्ट करती है उतना अनिष्ट तो एक गला काटनेवाला दुश्मन भी नही करता।

३४५

हे आत्मन्! तू स्वय ही अपना निग्रह कर। ऐसा करने से दु खो से मुक्त हो जायगा।

३४६

आत्मा और, है शरीर और (अन्य) है।

३४७

जहा रागेण कडाणं कम्माण, पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥

३४८

णरग तिरिक्ख जोणिं,
माणुसभावं च देवलोगं च ।
सिद्धे अ सिद्ध वसहिं,
छज्जीवणिय परिकहेइ ॥

३४९

अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहंमसि ।

३५०

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं वहिया मित्तमिच्छसि ।

३५१

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थन विज्जइ ।
मई तत्थ न गाहिया ॥

३५२

हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे ।

३५३

एगे आया ।

३५४

अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि ।

---

३४७ औप० ३५ ३४८ औप० ३७ ३४९. सूत्र० २।१।१३
३५० आचा० १।३।३ ३५१ आचा० १।५।६ ३५२ भग० ७।८
३५३ समया० १।१ ३५४. ज्ञाता० १।९

३४७

जिस प्रकार यह आत्मा राग-द्वेष द्वारा कर्मों का उपार्जन करती है और समय पर उन कर्मों का विपाक-फल भोगती है, उसी प्रकार यह आत्मा सर्वकर्मों का नाश कर सिद्धलोक मे सिद्धपद को प्राप्त करती है।

३४८

जो आत्मा पापकर्म का उपार्जन करती है वे नरक और तिर्यंच योनि मे जन्म लेती है, जो पुण्य का उपार्जन करती हैं, वे मनुष्य तथा देव गति मे जाती है। और जो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा वनस्पति के जीवो की तथा त्रस-जीवो की रक्षा कर कर्म दलिको को नष्ट कर देती हैं, वे आत्मा सिद्धालय मे सिद्धावस्था को प्राप्त होती है। ऐसा ज्ञानियो का कथन है।

३४९

शब्द, रूप, गन्ध आदि काम-भोग (जड-पदार्थ) और है, मैं (आत्मा) और हूँ।

३५०

पुरुष ! तू स्वय ही अपना मित्र है। फिर बाहर मे क्यो किसी मित्र की खोज कर रहा है ?

३५१

आत्मा के वर्णन मे समस्त शब्द समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क का भी स्थान नही है और न बुद्धि ही उसे ठीक तरह से ग्रहण करने मे समर्थ होती है।

३५२

आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुन्थुआ दोनो मे एक सदृश आत्मा है।

३५३

स्वरूप दृष्टि से सभी आत्माएँ एक (समान) है ।

३५४

मैं (आत्मा) अविनाशी हूँ, अवस्थित हूँ।

३५५

अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे ।

३५६

दुज्जय चेव अप्पाण, सव्वमप्पे जिए जिय ।

३५७

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्च ।

३५८

अप्पा हु खलु सयय रक्खियव्वो ।

---

३५५ भग० ७।१ ३५६ उत्त० ६।३६ ३५७ उत्त० १४।१९
३५८ दश० चूलिका २।१६

३५५

आत्मा का दु ख स्वकृत है अर्थात् अपना ही किया हुआ दु ख है, किसी अन्य का नही ।

३५६

एक दुर्जेय आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है ।

३५७

आत्मा अमूर्त तत्त्व है, यह इन्द्रिय-ग्राह्य नही है । यह अमूर्त है इस लिये नित्य है ।

३५८

अपनी आत्मा को सदा पापकर्मों से बचाये रखना चाहिए ।

मोक्ष

३५९

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा ।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदसिहिं ।।

३६०

नादसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।।

३६१

निव्वाण परम बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।
तम्हा सदा जए दते, निव्वाण सधए मुणी ।।

३६२

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहई लोगमिणं महन्त,
बुद्धेऽ पमत्तेसु परिव्वएज्जा ।।

३६३

सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय ।

३६४

आहसु विज्जाचरण पमोक्खं ।

---

३५९. उत्त० २८।२ ३६० उत्त० २८।३० ३६१. सूत्र० १।११।२२
३६२ सूत्र० १।१२।१८ ३६३ सूत्र० १।२।१।४ ३६४. सूत्र० १।१२।११

मोक्ष

३५९

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा सर्वदर्शी ज्ञानियो ने बतलाया है।

३६०

श्रद्धा के विना ज्ञान नही होता, ज्ञान के बिना आचरण नही होता, आचरण के विना मोक्ष नही मिलता और मोक्ष पाये विना निर्वाण–पूर्ण शान्ति नही मिलती।

३६१

जैसे चन्द्रमा सभी नक्षत्रो मे प्रधान है उसी प्रकार मोक्ष भी सभी पुरुपार्थो मे प्रधान है, अतएव मुनि सदा यतनावान् जितेन्द्रिय होकर मोक्ष की साधना करे।

३६२

जो ज्ञानी आत्मा इस लोक मे छोटे-वडे सभी प्राणियो को आत्मतुल्य देखते है, पट्द्रव्यात्मक इस महान् लोक का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं तथा अप्रमत्तभाव से सयम मे रत रहते हैं। वे ही मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी हैं।

३६३

आत्मा अपने स्वय के उपार्जित कर्मों से ही वधता है। कृतकर्मों को भोगे विना मुक्ति नही है।

३६४

ज्ञान और कर्म से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

३६५

एगे मरणे अन्तिमसारीरियाण।

३६६

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

३६७

अउल सुहसपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ।

३६८

नाणेण जाणई भावे, दसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई॥

३६९

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्म फासे अणुत्तर।
तया धुणइ कम्मरय, अवोहि-कलुस कडं॥

३७०

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्म खवित्ताण सिद्धि गच्छइ नीरओ॥

३७१

जया कम्मं खवित्ताण, सिद्धि गच्छइ नीरओ।
तया लोग मत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ॥

३७२

अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणे।
नाण च दसणं चेव, चरित्त चेव निच्छए॥

३७३

वन्धप्पमोक्खो तुज्झज्झत्थेव।

---

३६५. स्था० १।१।३६ ३६६. उत्त० ४।३ ३६७. उत्त० ३६।६६
३६८. उत्त० २८।३५ ३६९ दश० ४।२० ३७० दश० ४।२४
३७१ दश० ४।२५ ३७२ उत्त० २३।३३ ३७३. आचा० ५।२।१५०

३६५

मुक्त होनेवाली आत्माओ का वर्तमान अन्तिम देह का मरण ही एक मरण होता है, और नही।

३६६

उपार्जित कर्मों का फल भोगे विना मुक्ति नही है।

३६७

मोक्ष मे आत्मा अनन्त सुखमय रहता है, उस सुख की न कोई उपमा है और न कोई गणना ही।

३६८

जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से आश्रव का निरोध करता है, और तप से कर्मों को झाड कर शुद्ध–निर्मल होता है।

३६९

जव साधक उत्कृष्ट सयमरूपी धर्म का स्पर्श करता है, तव आत्मा पर लगी हुई मिथ्यात्व-जनित कर्म-रज को झाड कर दूर कर देता है।

३७०

जव आत्मा मन, वचन और काय के योगो का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करती है, तव वह कर्मों का क्षय कर सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त होती है।

३७१

जव आत्मा समस्त कर्मों को क्षय कर सर्वथा मलरहित सिद्धि (मोक्ष) को पा लेती है, तव वह लोक के मस्तक पर स्थित होकर सदा के लिए सिद्ध हो जाती है।

३७२

यदि किसी साधक को मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा है तो निश्चयदृष्टि मे उस के साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही है।

३७३

वन्धन से मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ मे है।

३७४

निरासवे सखवियाणकम्म'' तओ,
अणुत्तर सजमपालिया ण।

३७५

तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा,
विवज्जणा वालजणस्स दूरा।
सज्झायएगतनिसेवणा य,
सुत्तत्थ सचिंतणया धिई य॥

३७६

परीसहे जिणतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स।

३७७

निव्वाण परम जाइ, घयसित्ते व पावए।

३७८

जइ णाम कोइ मिच्छो णगर गुणे वहुविहे वियाणतो।
ण चएइ परिकहेउ उवमाए तहिं असतीए॥

३७९

इय सिद्धाण सोक्ख अणोवम णत्थि तस्स ओवम्म।
किंचि विसेसेणेत्तो ओवम्ममिण सुणह वोच्छ॥

३८०

सिद्धत्ति य बुद्धत्ति य पारगयत्तिय परपरगयत्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असगा य॥

३८१

णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइ जरामरणवधण विमुक्का।
अव्वावाह सुक्ख अणुहोंति सासय सिद्धा॥

३८२

णवि अत्थि माणुसाणं त सोक्ख ण विय सव्वदेवाण।
ज सिद्धाण सोक्ख अव्वावाह उवगयाण॥

---

३७४ उत्त० २०।५२ ३७५. उत्त० ३२।३ ३७६. दश० ४।२७
३७७ उत्त० ३।१२ ३७८ उव० १८३ ३७९. उव० १८४
३८०. उव० १८७ ३८१. उव० १८८ ३८२ उव० १८०

३७४

जिसने सर्व-आश्रवो का निरोध कर दिया है, तथा सर्वकर्मों का क्षय कर दिया है, वह विपुलोत्तम शाश्वत मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

३७५

गुरु और वृद्धो [स्थविर मुनियो] की सेवा करना, अज्ञानी-जनो का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना, तथा धैर्य रखना, यह मोक्ष का मार्ग है।

३७६

जो साधक परीषहो पर विजय पाता है उस के लिए मोक्ष सुलभ है।

३७७

घृत से अभिसिञ्चित अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल एव शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त होता है।

३७८—३७९

जिस प्रकार कोई म्लेच्छ (जगली) नगर की अनेक विध-विशेषताओ को देख लेने पर भी उपमा न मिलने से उस का वर्णन करने मे वह असमर्थ होता है। इसी प्रकार सिद्धात्माओ का सुख अनुपम होता है। उनकी तुलना नही हो सकती।

३८०

सर्वकार्य सिद्ध होने वे सिद्ध हैं, सर्वतत्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं, ससार समुद्र को तैर चुके होने से पारगत है, तथा हमेशा सिद्ध रहेगे, इस से परपरागत है।

३८१

सिद्धात्मा समस्त दु खो को नष्ट किये होते हैं। जन्म, जरा और मृत्यु के बन्धन से मुक्त होते हैं। अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं।

३८२

ऐसा सुख न तो मनुष्य के होता है और न सभी देवताओ के, जैसा कि अव्याबाध गुण को प्राप्त सिद्धात्माओ के होता है। ●

जीवन और कला (२)

विनय

३८३

आणानिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए ।
इगियागारसपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ।।

३८४

विणए ठविज्ज अप्पाण, इच्छतो हियमप्पणो ।

३८५

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणय न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फल व कीअस्स वहाय होइ ।।

३८६

सिया हु से पावय नो डहिज्जा,
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विस हालहल न मारे,
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ।।

३८७

रायणिएसु विणय पउजे ।

३८८

विणय पि जो उवाएण, चोइओ कुप्पई नरो ।
दिव्व सो सिरिमिज्जति, दण्डेण पडिसेहए ।।

---

३८३ उत्त० १।२ ३८४ उत्त० १।६ ३८५, दश० ६।१
३८६, दश० ६।७ ३८७, दश० ८।४० ३८८, दश० ६।२।४

विनय

३८३

जो शिष्य गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, उनके निकट-सम्पर्क मे रहता है, तथा उन के इगित और आकार से मनोभाव को समझ कर कार्य करता है, वह विनीत कहलाता है।

३८४

आत्म-हितैषी साधक अपने आप को विनय धर्म मे स्थिर करे।

३८५

जो मुनि अभिमान, क्रोध, माया, या प्रमादवश गुरु के निकट रहकर विनय नही सीखता, उन के प्रति विनय का व्यवहार नही करता उस का यह अविनयी भाव वास के फल की तरह स्वय के लिए विनाश का कारण बनता है।

३८६

सभव है कदाचित् अग्नि न जलावे, सम्भव है कुपित विषधर न डसे और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी मृत्यु का कारण न बने, किन्तु गुरु की अवहेलना करनेवाले साधक के लिए मोक्ष सम्भव नही है।

३८७

बडो के साथ सदा विनयपूर्ण व्यवहार करो।

३८८

कोई महापुरुष सुन्दर-शिक्षा द्वारा किसी को विनय-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करे तब वह कुपित होता है। ऐसी स्थिति मे वह स्वय अपने द्वार पर आई हुई दिव्य लक्ष्मी को डण्डा-मार कर भगा देता है।

३८९

मूलाओ खधप्पभवो दुमस्स,
खधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ सि पुप्फं च फल रसो य ॥

३९०

एव धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मोक्खो ।
जेण कित्ति, सुय, सिग्घ, निस्सेसं चाभिगच्छई ॥

३९१

जस्सतिए धम्मपयाइ सिक्खे,
तस्सतिए वेणइय पउजे ।

३९२

आयरिय कुविय नच्चा, पत्तिएण पसायए ।
विज्झवेज्झ पजलीउडो, वएज्ज न पुणुत्ति य ॥

३९३

विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो ।

३९४

वेयावच्चेण तित्थयरनाम गोय कम्म निबधेइ ।

३९५

गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्व भवइ ।

३९६

कलहडम्बरवज्जिए… सुविणीएत्ति वुच्चई ।

३९७

तम्हा विणयमेसिज्जा, सील पडिलभेज्जओ ।

---

३८९ दश० ९।२।१ ३९० दश० ९।२।२ ३९१. दश० ९।१।१२
३९२ उत्त० १।४१ ३९३ प्रश्न० २।३ ३९४. उत्त० २९ ४३
३९५ स्था० ८ ३९६. उत्त० ११।१३ ३९७. उत्त० १।७

३८९

वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ, और शाखाओ मे से प्रशाखाएँ निकलती है। इस के पश्चात् फूल, फल और रस उत्पन्न होता है।

३९०

इसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष का मूल विनय है, और उसका अन्तिम फल मोक्ष है। विनय से मनुष्य को कीर्ति, प्रशसा और श्रुतज्ञान आदि समस्त इष्ट तत्त्वो की प्राप्ति होती है।

३९१

जिनके पास धर्म-शिक्षा प्राप्त करे, उनके प्रति सदा विनय भाव रखना चाहिए।

३९२

विनीत शिष्य आचार्य को कुपित हुए जानकर प्रीतिकारक वचनो से उन्हे प्रसन्न करे, हाथ जोडकर उन्हे शान्त करे और अपने मुँह से ऐसा कहे कि "पुन मैं ऐसा नही करूँगा"।

३९३

विनय स्वय एक तप है और श्रेष्ठ धर्म है।

३९४

वैयावृत्त्य-सेवा से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र जैसे उत्कृष्ट पुण्यकर्म का उपार्जन करता है।

३९५

रोगी की सेवा के लिए सदा जागरूक रहना चाहिए।

३९६

कलह और जीवहिंसा को वर्जनेवाला व्यक्ति सुविनीत होता है।

३९७

विनय से साधक को शील—सदाचार मिलता है। अत उस की खोज करनी चाहिए।

३९८

वित्ते अचोइए णिच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वइ सया ॥

३९९

विणयमूले धम्मे पन्नत्ते।

४००

जत्थेव धम्मायरियं पासेज्जा,
तत्थेव वंदिज्जा नमंसिज्जा।

४०१

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा।

४०२

हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो।

४०३

जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे।
बुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सोअगयं जहा ॥

---

३९८ उत्त० १।४४ ३९९. ज्ञाता० १।५ ४०० राज प्र० ४।७६
४०१ उत्त० १।९ ४०२. उत्त० १।२८ ४०३ दश० ९।२।३

३९८

विनय-सम्पन्न शिष्य गुरु द्वारा बिना प्रेरणा दिये ही कार्य करने मे प्रवृत्त होता है। वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पा कर शीघ्र ही उन के उपदेशानुसार सभी कार्य भली-भाँति सम्पन्न कर लेता है।

३९९

धर्म का मूल विनय—आचार है।

४००

जहाँ कही भी अपने धर्माचार्य के देखें वही उन्हे वन्दन नमस्कार करना चाहिए।

४०१

गुरुजनो के शिक्षा देने पर कुपित-क्षुब्ध नही होना चाहिए।

४०२

प्रज्ञा-शील शिष्य गुरुजनो की जिन शिक्षाओ को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि-अविनीत शिष्य को वे ही शिक्षाएँ बुरी लगती हैं।

४०३

जो चण्ड है, अज्ञ है, स्तब्ध है, अप्रियवादी है, मायावी है और शठ है, वह अविनीतात्मा ससार के प्रवाह मे उसी प्रकार प्रवाहित होता रहता है, जैसे नदी के प्रवाह मे पडा हुआ काष्ठ। ●

वैराग्य

४०४

ताले जह बंधणच्चुए, एव आउखयमि तुट्टती।

४०५

एगस्स गती य आगती।

४०६

मा एय अवमन्नंता, अप्पेण लुप्पहा बहुं।

४०७

उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति,
दुम जहा खीणफल व पक्खी।

४०८

उवणमति मरणधम्म अवित्तत्ता कामाण।

४०९

इहलोए ताव नट्ठा, परलोए वि य नट्ठा।

४१०

अदक्खु कामाइ रोगवं।

४११

देवा वि सइदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभति।

---

४०४. सूत्र० १।२।१।६ ४०५. सूत्र० १।२।३।१७ ४०६ सूत्र० १।३।४।७
४०७ उत्त० १३।३१ ४०८ प्रश्न० १।४ ४०९. प्रश्न० १।४
४१० सूत्र० १।२।३।२ ४११. प्रश्न० १।५

वैराग्य

४०४

जैसे ताल-वृक्ष का फल वृन्त से टूट कर नीचे गिर पडता है, वैसे ही आयु-कर्म के क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी का जीवन-धागा टूट जाता है।

४०५

यह आत्मा परिवार आदि से मुक्त होकर परलोक मे अकेला ही गमनागमन करता है।

४०६

वीतराग मार्ग की अवज्ञा करते हुए, अल्प-वैषयिक सुखो के लिए तुम अनन्त सुख (मोक्ष) को नष्ट मत करो।

४०७

मनुष्य के पुण्य क्षीण होने पर भोग साधन उन्हे उसी प्रकार छोड देते हैं, जिस प्रकार क्षीण-फलवाले वृक्ष को पक्षी।

४०८

सुन्दर से सुन्दर सुख का उपभोग करनेवाले देव और चक्रवर्ती आदि भी अन्त मे काम-भोगो की अतृप्त-दशा मे ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

४०९

विषयासक्त जीव इस लोक मे भी विनाश को प्राप्त होते हैं और परलोक मे भी।

४१०

आत्म-निष्ठ साधक की दृष्टि मे काम–भोग रोग के समान है।

४११

देव और इन्द्र भी (भोगो से) न कभी तृप्त होते हैं और न कभी सन्तुष्ट ही।

४१२

सबुज्झह ! किं न बुज्झह ? सबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमति राइयो, नो सुलभ पुणरावि जीविय ॥

४१३

माणुसत्ते असारम्मि, वाहि-रोगाण आलए ।
जरा-मरण-घत्थम्मि, खण पि न रमामह ॥

४१४

असासए सरीरम्मि, रइ नोवलभामह ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणवुब्बुय-सन्निभे ॥

४१५

चिच्चा वित्त च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गह ।
चिच्चा ण णंतग सोय, निरवेक्खो परिव्वए ॥

४१६

जेण सिया तेण णो सिया ।

४१७

नीहरन्ति मय पुत्ता, पियर परमदुक्खिया ।
पियरो वि तहा पुत्ते, वन्धू राय ! तव चरे ॥

---

४१२. सूत्र० १।२।१।१ ४१३. उत्त० १६।१४ ४१४. उत्त० १६।१३
४१५ सूत्र० १।६।७ ४१६. आचा० १।२।४ ४१७ उत्त० १८।१५

४१२

हे भव्यो ! तुम समझो, क्यो नही समझ रहे हो ? मरने के बाद परभव मे सबोधि की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है । जो रात्रियाँ बीत रही हैं वे पुन लौट कर नही आती । मनुष्य का जीवन भी पुन प्राप्त होना सुलभ नही है ।

४१३

मनुष्य-शरीर असार है, व्याधि और रोगो का घर है । जरा और मरण से ग्रस्त है । अत इसमे मुझे एक क्षण भी आनन्द नही मिल रहा है ।

४१४

यह शरीर पानी के बुलबुले के समान नश्वर है । पहले या पीछे जब कभी इसे छोडना अवश्य है । अत इस के प्रति मेरी तनिक भी प्रीति-आसक्ति नही है ।

४१५

विवेकशील आत्मा धन, पुत्र, ज्ञाति, परिग्रह तथा अन्तरशोक को छोडकर निरपेक्ष हो सयम की परिपालना करे ।

४१६

तुम जिन वस्तुओ से सुख की अभिलाषा रखते हो, वस्तुत वे सुख के हेतु नही है ।

४१७

जैसे अत्यन्त दुखी हुए पुत्र, मृत पिता को श्मशान ले जाते है, और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रो तथा वन्धुओ को भी श्मशान ले जाता है । अतः हे राजन् ! यह देख कर तप का आचरण कर ।

संयम

४१८

चउव्विहे सजमे—
मणसजमे, वइसजमे, कायसजमे, उवगरणसजमे।

४१९

ज मय सव्व साहूण, त मय सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण त तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते ॥

४२०

जहा दुक्ख भरेउ जे, होइ वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्ख करेउ जे, कीबेण समणत्तण ॥

४२१

अणुसोअपट्ठिए वहुजणम्मि, पडिसोयलद्धलक्खेण।
पडिसोअमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेण ॥

४२२

वालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे।

४२३

जहा भुयाहिं तरिउ, दुक्कर रयणायरो।
तहा अणुवसन्तेण, दुक्कर दमसागरो ॥

---

४१८. स्था० ४।२ ४१९. सूत्र० १।१५।२४ ४२० उत्त० १९।४०
४२१ दश० चूलिका २।३ ४२२. उत्त० १९।३८ ४२३ उत्त० १९।४२

संयम

४१८

सयम के चार प्रकार हैं—मन का सयम, वचन का सयम, काया का सयम और उपधि-सामग्री का सयम।

४१९

सभी साधुओ द्वारा मान्य, ऐसा जो सयमधर्म है वह पाप का नाश करनेवाला है। इसी सयम धर्म की उत्कृष्ट आराधना कर अनेक भव्य-जीव ससार-सागर से पार हुए है और अनेको ने देवयोनि प्राप्त की है।

४२०

जिस प्रकार वस्त्र के थैले को हवा से भरना कठिन है उसी प्रकार कायर-पुरुष के लिये श्रमणधर्म का पालन करना भी कठिन है।

४२१

ससारी मनुष्य विषय के प्रवाह मे बहनेवाले तथा उसी मे सुख मानने-वाले होते हैं, जब कि सत-पुरुषो का लक्ष्य प्रतिस्रोत होता है। अनु-स्रोत ससार है और प्रतिस्रोत बाहर निकलने का उपाय—द्वार है।

४२२

सयम बालू-रेती के कौर की तरह नीरस है।

४२३

जिस प्रकार भुजाओ से तैर कर समुद्र को पार करना अति कठिन है, उसी प्रकार अनुपशान्त-आत्मा द्वारा सयमरूपी समुद्र को पार करना अति कठिन है।

४२४

सजमेणं अणण्हयत्त जणयइ।

४२५

सजमेण तवसा अप्पाणे भावे माणे विहरइ।

४२६

जो जीवे वि न जाणइ, अजीवे वि न जाणइ।
जीवाऽजीवे अयाणतो, कह सो नाहीइ सजम॥

४२७

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाऽजीवे वियाणतो, सो हु नाहीइ सजम॥

४२८

असजमे नियत्तिं च, सजमे य पवत्तण।

४२९

गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो सजमुत्तरा।

४३०

तहेव हिंस अलिय चोज्ज अवम्भसेवण।
इच्छाकाम च लोभ च, सजओ परिवज्जए॥

४३१

जो सहस्स सहस्साण, मासे मासे गव दए।
तस्सावि सजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण॥

---

४२४. उत्त० २९।२६ ४२५ उपा० १।७६ ४२६. दश० ४।१२
४२७. दश० ४।१३ ४२८. उत्त० ३१।२ ४२९ उत्त० ५।२०
४३०. उत्त० ३५।३ ४३१. उत्त० ९।४०

४२४

सयम से जीव आश्रव–पाप का निरोध करता है ।

४२५

साधक सयम और तप से आत्मा को सतत् भावित करता हुआ विचरण करे ।

४२६

जो जीवो को नही जानता है वह अजीवो को भी नही जानता । जीव और अजीव दोनो को नही जाननेवाला सयम को कैसे जानेगा ?

४२७

जो जीवो को भी जानता है और अजीवो को भी जानता है । वह जीव और अजीव दोनो को जाननेवाला सयम को भी भलीभाँति-सम्यक् प्रकार से जान लेता है ।

४२८

असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

४२९

सब गृहस्थो की अपेक्षा साधुओ का सयम श्रेष्ठ होता है ।

४३०

सयमी आत्मा, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य-सेवन, भोग-लिप्सा एव लोभ इन सब का सदा परित्याग करे ।

४३१

जो मनुष्य प्रतिमास दस-दस लाख गायो का दान देता है, उस की अपेक्षा कुछ नही देनेवाले सयमी का सयम श्रेष्ठ है ।

श्रमण

४३२

जह मम ण पियं दुक्ख, जाणिअ एमेव सव्वजीवाण ।
न हणइ न हणावेइ अ, सममणइ तेण सो समणो ॥

४३३

सयणे अ जणे अ समो, समो अ माणावमाणेसु ।

४३४

निरुवलेवा गगणमिव, निरालवणा अणिलो इव ।

४३५

समे य जे सव्वपाणभूतेसु, से हु समणे ।

४३६

अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइय ।

४३७

भुञ्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणे त्ति वुच्चई ।

४३८

से जहा वि अणगारे उज्जुकडे णियागपडिवण्णे ।
अमाय कुव्वमाणे वियाहिए ॥

---

४३२ अनु० १२९ ४३३ अनु० १३२ ४३४. औप० ५३
४३५. प्रश्न० २।५ ४३६ दश० ६।२२ ४३७. उत्त० १७।३
४३८ आचा० १।३।१९

श्रमण

४३२

जिस प्रकार मुझे दु ख प्रिय नही है, उसी प्रकार अन्य सभी प्राणियो को दु ख प्रिय नही है । जो ऐसा जानकर न खुद हिंसा करता है, न किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्त्वयोगी माधक ही सच्चा श्रमण-साधु है ।

४३३

स्वजन तथा परजन मे, मान एव अपमान मे सदा सम रहता है, वह श्रमण होता है ।

४३४

सन्तपुरुप सदा गगन के समान निरवलेप और वायु के समान निरालब होते हैं ।

४३५

समस्त प्राणियो के प्रति जो समदृष्टि रखता है वस्तुत वही सच्चा श्रमण है ।

४३६

निर्ग्रन्थ मुनि और तो क्या, अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखते ।

४३७

जो श्रमण खा-पी कर आराम से सोता है, समय पर धर्म साधना नही करता, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

४३८

जो सरलतादि गुणो से युक्त होता है, तथा मोक्ष-मार्ग के साधन-रूप ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त व कपटरहित होता है, वही विशिष्ट अनगार कहा गया है ।

४३९

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापससासु, समो माणावमाणओ ।।

४४०

सुक्कज्झाण झियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे ।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ।।

४४१

अणिस्सिओ इह लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासी चन्दणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ।।

४४२

निम्मोम निरहकारो, निस्सगो चत्तगारवो ।

४४३

जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउ होइ सुदुक्कर ।
तहा दुक्कर करेउ जे, तारुण्णे समणत्तण ।।

४४४

मण परिजाणइ से निग्गथे ।

४४५

वत्थगधमलकार, इत्थिओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुजति, न से चाइत्ति वुच्चइ ।।

४४६

जे य कते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ।।

---

४३९ उत्त० १९।९१ ४४०. उत्त० ३५।१९ ४४१ उत्त० १९।९३
४४२ १९।९० ४४३ उत्त० १९।४० ४४४ आचा० २।३।१५।१
४४५. दश० २।२ १४७. दश० २।३

४३९

जो लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशसा, और मान-अपमान आदि हर स्थिति मे समभाव से रहनेवाला होता है, वही वस्तुत साधु है।

४४०

मुनि शुक्ल-ध्यान मे लीन रहे, सासारिक सुखो की कामना न करे, सदा अकिञ्चन वृत्ति से रहे तथा जीवन भर काया का ममत्त्व त्याग कर विचरण करता रहे।

४४१

साधु इस लोक और परलोक मे अनासक्त भाव से रहे, वसुले से काटने अथवा चन्दन लगाने वाले पर तथा भोजन मिलने या न मिलने पर, हर स्थिति मे समभाव पूर्वक रहे।

४४२

मुनि ममत्त्व रहित, अहकार रहित, निर्लेप, गौरव का परित्याग करने-वाला, त्रस और स्थावर सभी जीवो के प्रति समभाव रखनेवाला होता है।

४४३

जैसे प्रज्वलित अग्नि-शिखा का पान करना अति दुष्कर है, वैसे ही यौवन मे श्रमण धर्म का पालन करना अति कठिन है।

४४४

जो अपनी मन स्थिति को पूर्णतया परखना जानता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ-साधक है।

४४५

जो पुरुप वस्त्र, गन्ध, अलकार-आभूपण, स्त्रियाँ और पलगो का परवश होने के कारण सेवन नही करता, वह वास्तव मे त्यागी नही कहलाता।

४४६

जो पुरुप प्राप्त हुए कान्त और प्रिय भोगो को स्वेच्छा से उदासीनता-पूर्वक त्याग देता है, वह निश्चय ही त्यागी कहलाता है।

४४७

गिहि-जोग परिवज्जए जे स भिक्खू ।

४४८

धम्मज्झाणरए जे स.भिक्खू ।

४४९

विइत्तु जाई-मरण महब्भय,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ।

४५०

तवसा धुणइ पुराण-पावग,
मण-वय-काय सुसवुडे जे स भिक्खू ।

४५१

हत्थसजए पायसजए, वायसंजए सजइदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थ च वियाणइ जे स भिक्खू ।।

४५२

सम सुह-दुक्ख सहे य जे स भिक्खू ।

४५३

महप्पसाया इसिणो हवति,
न हु मुणी कोवपरा हवति ।

४५४

उवसते अविहेडए जे स भिक्खू ।

४५५

जो कम्हि वि न मुच्छए स भिक्खू ।

---

४४७ दश० १०।६ ४४८. दश० १०।१९ ४४९ दश० १०।१४
४५० दश० १०।७ ४५१. दश० १०।१५ ४५२ दश० १०।११
४५३ उत्त० १२।३१ ४५४. दश० १०।१० ४५५ उत्त० १५।२

४४७

जो गृहस्थो से अनि-स्नेह सूत्र नही जोडता, वह भिक्षु है ।

४४८

जो धर्म-ध्यान मे सतत रत रहता है, वह भिक्षु है ।

४४९

जो जन्म-मरण को महाभयकारी और अनन्त दु खो का कारण जान कर सयम और तप मे रत रहता है, वह भिक्षु कहलाता है ।

४५०

जो तप द्वारा पूर्वापार्जित पापकर्मों को नष्ट कर डालता है, वह भिक्षु कहलाता है ।

४५१

जो हाथ, पाँव, वाणी और इन्द्रियो का भलीभाँति सयम रखता है, जो अध्यात्म मे रत रहता है, जो अपने-आप को सुन्दर रीति से समाहित रखता है, जो सूत्र और अर्थ को यर्थाथ रूप से जानता है, वह भिक्षु है ।

४५२

जो सुख और दु ख को समभावपूर्वक सहन करता है, वह भिक्षु कहलाता है ।

४५३

ऋषि-मुनि सदा प्रसन्न-चित्त रहते हैं, कभी किसी पर कुपित नही होते ।

४५४

जो शान्त है तथा अपने कर्तव्य-पथ को अच्छी तरह से जानता है वही श्रेष्ठ भिक्षु है ।

४५५

जो किसी वस्तु मे मूर्च्छाभाव न रखे, वही साधु है ।

४५६

लाभातरे जीविय वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधसी ।

४५७

त बिन्तऽम्मापियरो, सामण्ण पुत्त दुच्चरं ।
गुणाण तु सहस्साइ, धारेयव्वाइ भिक्खुणा ॥

४५८

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥

४५९

अन्नायपिडेण हियासएज्जा ।

४६०

सद्दे हि रूवेहि असज्जमाण ।

४६१

सव्वेहि कामेहि विणीय गेहि ।

४६२

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी,
समागम कखइ अंतगस्स ।

४६३

निधूय कम्म न पवञ्चुपेइ,
अक्खक्खए वा सगड तिवेमि ।

४६४

उवसमसार खु सामण्णं ।

---

४५६ उत्त० ४।७ ४५७. उत्त० १९।२५ ४५८ दश० १०।१९
४५९ सूत्र १।७।२७ ४६० सूत्र० १।७।२७ ४६१. सूत्र० १।७।२७
४६२ सूत्र० १।७।३० ४६३. सूत्र० १।७।३० ४६४. वृहत्कल्प० १।३५

४५६

जब तक नये-नये गुणो की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दे और जब यह शरीर स्वय साधना मे निरुपयोगी प्रतीत हो, तब सयमी-साधक मल के समान इस का त्याग कर दे।

४५७

मात-पिता ने कहा—हे पुत्र ! श्रामण्य का आचरण अत्यन्त कठिन है, क्योकि भिक्षु को हजारो गुण धारण करने होते है।

४५८

जो जाति का मद नही करता, रूप का मद नही करता, लाभ का मद नही करता, श्रुत-ज्ञान का मद नही करता, इस प्रकार सब मदो को वर्जता हुआ धर्म-ध्यान मे रत रहता है—वह सच्चा भिक्षु है।

४५९

सयमी साधक अज्ञात पिण्ड से अपने जीवन का निर्वाह करे।

४६०

साधु शब्द और रूप मे आसक्त न बने।

४६१

मुनि सर्व-कामनाओ से अपने चित्त को हटाता हुआ रहे।

४६२

हनन किया जाता हुआ मुनि, छिली जाती हुई लकडी की तरह राग-द्वेष रहित होता है। वह शान्तभाव से मृत्यु की प्रतीक्षा करता है।

४६३

कर्म क्षय करनेवाला मुनि उसी प्रकार ससार-प्रपच मे नही पडता, जिस प्रकार धुरा टूटने पर गाडी आगे नही बढती।

४६४

श्रमणत्त्व का सार है—उपशम।

४६५

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए सजए।

४६६

अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो।

४६७

अज्झप्पज्झाण जोगेहिं, पसत्थदमसासणे।

४६८

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकपी।

४६९

समयाए समणो होइ।

४७०

नाणेण उ मुणी होइ।

४७१

जहा तुलाए तोलेउ, दुक्कर मन्दरो गिरी।
तहा निहुय नीसक, दुक्कर समणत्तण॥

४७२

नाणदंसण सपण्णं, सजमे य तवे रयं।
एव गुणसमाउत्त, सजयं साहुमालवे॥

४७३

णातिवाएज्ज कचण, एस वीरे पसंसिए
जे ण णिविज्जति आदाणाए।

---

४६५ उत्त० ६।१६ ४६६. उत्त० १९।९४ ४६७ उत्त० १९।९४
४६८. उत्त० २१।१३ ४६९ उत्त० २५।३२ ४७० उत्त० २५।३२
४७१ उत्त० १९।४२ ४७२. दश० ७।४९ ४७३. आचा० २।४

४६५

सयमी मुनि लेप लगे उतना भी सग्रह न करे, वासी न रखे ।

४६६

मुनि कर्म आने के सभी अप्रशस्त द्वारो को सब ओर से बन्द कर अनाश्रवी बन जाता है ।

४६७

सयमी साधक अध्यात्म तथा ध्यानयोग से आत्मा का दमन एव अनुशासन करनेवाला होता है ।

४६८

भिक्षु सर्व जीवो के प्रति दयानुकम्पी रहे ।

४६९

समभाव की साधना करने से श्रमण होता है ।

४७०

ज्ञान की आराधना-मनन करने से मुनि होता है ।

४७१

जैसे मेरु-पर्वत को तराजू से तोलना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही निश्चल और निर्भय-भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है ।

४७२

जो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हो, सयम और तप मे निरत हो, ऐसे गुणो से युक्त सयमी साधक को ही साधु कहना चाहिये ।

४७३

सयमी किसी भी प्राणी को पीडा न पहुँचावे । जो सयम के पालन मे किसी प्रकार का खेद नही करते हैं, वे पराक्रमी मुनि इन्द्रादि द्वारा प्रशसित होते हैं ।

श्रमण-धर्म

४७४

पचासवपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु सजया।
पचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदसिणो ॥

४७५

हविज्ज उअरे दते, थोव लद्धु न खिसए।

४७६

जाइ सद्धाइ निक्खतो, परियायट्ठाणमुत्तम।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरियसम्मए॥

४७७

जे न वदे न से कुप्पे, वदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठई॥

४७८

समण सजय दन्त, हणेज्जा को वि कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति, एव पेहेज्ज सजए॥

४७९

देवलोगसमाणो य, परियाओ महेसिण।

४८०

रयाण अरयाणं च, महानरयसारिसो।

---

४७४ दश० ३।११ ४७५ दश० ८।२९ ४७६ दश० ८।६१
४७७ दश० ५।२।३० ४७८ उत्त० २।२७ ४७९ दश० चू० १।
४८०. दश० चू० १।१०

श्रमण-धर्म

४७४

निर्ग्रन्थ मुनि पचाश्रव का निरोध करनेवाले, तीन गुप्तियो से गुप्त, छह प्रकार के जीवो की रक्षा करनेवाले, पाँच इन्द्रियो का निग्रह करनेवाले, स्वस्थ चित्तवाले और ऋजुदर्शी होते है ।

४७५

श्रमण भूख का दमन करनेवाला होता है, थोडा-आहार मिलने पर भी वह कभी क्रोध नही करता ।

४७६

(श्रमण) जिस अनन्य-श्रद्धा से उत्तम-चारित्र धर्म स्वीकार किया हो, उसी श्रद्धा से उस का अनुपालन करे, तथा आचार्य द्वारा प्रदर्शित गुणो की आराधना मे सतत जागरूक रहे ।

४७७

यदि कोई वन्दन न करे, तो उस पर क्रुद्ध न होवे, और यदि कोई वन्दन करे तो गर्व न करे । इस प्रकार जो विवेक पुरस्सर सयम-धर्म की आराधना करता है, उस का साधुत्त्व निर्बाध-भाव से स्थिर रहता है ।

४७८

इन्द्रियो का दमन करनेवाले मुनि को यदि कोई दुष्ट व्यक्ति पीटे तो वह–"आत्मा का नाश नही होता" ऐसा चिन्तन करे, किन्तु प्रतिशोध की भावना किंचित् भी मन मे न लाए ।

४७९

सयम मे अनुरक्त महर्षियो को चारित्र पर्याय-देवलोक जैसा सुख-ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला होता है ।

४८०

जो साधक सयम मे अनुरक्त नही है, उन के लिए चारित्र पर्याय महा-नरक जैसा कष्टदायी बन जाता है ।

४८१

न वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पन्ती लोगसि पाणिणो ।
एव सहिएहि पासए, अनिहे से पुट्ठे हियासए ॥

४८२

गोवालो भडवालो वा, जहा तद्दव्वणिस्सरो ।
एव अणिस्सरो त पि, सामण्णस्स भविस्ससि ॥

४८३

न पूयण चेव सिलोयकामी ।

४८४

पियमप्पिय कस्सइ णो करेज्जा ।

४८५

अकसाइ भिक्खू ।

४८६

आहारमिच्छे मियमेसणिज्ज ।

४८७

असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई लहु अप्पभक्खी, चेच्चा गिह एगचरे स भिक्खू ॥

४८८

दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, त जहा—
खती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे,
सच्चे, सजमे, तवे, चियाए, बभचेरवासे ।

---

४८१ सूत्र० १।२।१।१३ ४८२. उत्त० २२।४६ ४८३ सूत्र० १।१३।
४८४. सूत्र० १।१३।२२ ४८५ सूत्र० १।१३।२२ ४८६. उत्त० ३२।४
४८७ उत्त० १५।१६ ४८८. स्था० १०।७१३

४८१

कष्ट तथा आपत्ति के आने पर ज्ञान-सम्पन्न पुरुष खेदरहित मन से इस प्रकार विचार करे कि कष्टो से मैं ही पीडित नही हूँ, किन्तु ससार मे दूसरे भी दु खित हैं। और जो कष्ट आये है, उन्हे शातिपूर्वक सहन करे।

४८२

जिस प्रकार कोई गोपाल गौओ के चराने मात्र से उनका स्वामी नही वन सकता, अथवा कोई (कोपाध्यक्ष) धन की रक्षा करने मात्र से ही उस का स्वामी नही हो सकता, ठीक इसी तरह हे शिष्य! तू भी केवल साधु—वेश की रक्षामात्र से ही श्रामण्य का स्वामी नही वन सकेगा।

४८३

सत पूजा, प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की अभिलाषा न करे।

४८४

सत पुरुष किसी को प्रिय अथवा अप्रिय न वनाए।

४८५

श्रमण कपाय-भाव से रहित बने।

४८६

आत्मार्थी साधक को परिमित और शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिए।

४८७

जो शिल्प-जीवी नही है, जिस के घर नही है, जिसके मित्र नही है, जो जितेन्द्रिय और सर्व प्रकार के परिग्रह से मुक्त है, जिस का कषाय मन्द है, जो अल्प और निस्सार भोजन करता है तथा गृह का त्याग कर अकेला राग-द्वेष रहित होकर विचरण करता है, वह भिक्षु है।

४८८

दस प्रकार का श्रमण धर्म कहा गया है—क्षान्ति—क्षमा, मुक्ति—निर्लोभता, आर्जव—सरलता, मार्जव-नम्रता, लाघव—अकिंचनता, सत्य, सयम, तप, त्याग, और ब्रह्मचर्य।

४८९

इदिएहिं गिलायतो, समिय आहरे मुणी ।

४९०

पढम पोरसिं सज्झाय बीय झाण झियायई ।
तइयाए भिक्खायरिय, पुणो चउत्थीए सज्झाय ।।

४९१

गिलाण वेयावच्च करेमाणे समणे निग्गथे,
महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति ।

---

४८९. आचा० १।८।८।१४ ४९०. उत्त० २६।१२ ४९१ व्यवहार० १०

४८९

शरीर और इन्द्रियो के क्लान्त होने पर भी मुनि अपने मे साम्य-भाव स्थापित करे।

४९०

सयमी साधक प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय और दूसरे मे ध्यान करे। तीसरे मे भिक्षाचरी [गोचरी] और चौथे मे पुन स्वाध्याय करे।

४९१

जो श्रमण रुग्ण मुनि की सेवा करता है, वह महान् निर्जरा तथा महान् पर्यवसान–परिनिर्वाण करता है।

गुरु-शिष्य

४६२

जहाहियग्गि जलण नमसे, नाणाहुई-मत-पयाभिसित्त ।
एवायरिय उवचिट्ठएज्जा, अणतनाणोवगओऽवि सतो ॥

४६३

आयरियेहिं वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाइवि ।

४६४

आलवते लवते वा, न निसीएज्ज कयाइवि,
चइऊणमासण धीरो, जओ जत्त पडिस्सुणे ॥

४६५

आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कया ।
आगम्मुक्कुडुओ सतो, पुच्छिज्जा पजलीउडो ॥

४६६

तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे,
तस्सन्नी, तन्निवेसणे ।

४६७

हिरिमं पडिसलीणे, सुविणीए ।

---

४६२. दश० ६।१।११ ४६३ उत्त० १।२० ४६४ उत्त० १।२१
४६५ उत्त० १।२२ ४६६ आचा० ५।४ ४६७. उत्त० ११।१३

गुरु-शिष्य

४६२

जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण मधु, घृत आदि विविध पदार्थों की आहुति तथा मन्त्रपदो से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, ठीक उसी प्रकार शिष्य अनन्त ज्ञान-सम्पन्न होने पर भी गुरु की विनयपूर्वक सेवा करे।

४६३

आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर भी शिष्य किसी भी अवस्था मे मौन—चुपचाप न रहे।

४६४

बुद्धिमान शिष्य गुरु के द्वारा एक बार या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे, किंतु आसन को छोड कर यत्नपूर्वक उनके आदेश को स्वीकार करे।

४६५

विनीत शिष्य आसन पर अथवा शय्या पर बैठा हुआ, गुरु से प्रश्न न पूछे, किंतु उन के समीप जा कर उत्कटिकासन करता हुआ हाथ जोड कर सूत्रादि अर्थ पूछे।

४६६

विनीत शिष्य को चाहिए कि वह गुरु की दृष्टि के अनुसार चले, उन की नि स्सगता का अनुगमन करे, उन्हे हर बात मे आगे रखे, उनमे श्रद्धा रखे और उन के समीप रहे।

४६७

जो शिष्य लज्जाशील और इन्द्रिय-विजेता होता है, वह सुविनीत बनता है।

४९८

जं मे वुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे॥

४९९

गुरु तु नासाययई स पुज्जो।

५००

न या वि मोक्खो गुरु हीलणाए।

५०१

न वाहिर परिभवे, अत्ताण न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवस्सि वुद्धिए॥

५०२

खलुका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ति धिइदुव्वला॥

५०३

वाल सम्मइ सासतो, गलियस्स व वाहए।

५०४

रमए पडिए सास, हय भद्द व वाहए।

५०५

मा गलियस्सेव कस, वयणमिच्छे पुणो पुणो।

५०६

कस व दट्ठुमाइण्णे, पावग परिवज्जए।

---

४९८. उत्त० १।२७　　४९९ दश० ९।३।२　　५०० दश० ९।१।७
५०१ दश० ८।३०　　५०२ उत्त० २७।८　　५०३ उत्त० १।३७
५०४. उत्त० १।३७　　५०५ उत्त० १।१२　　५०६ उत्त० १।१२

४९८

"गुरु कोमल अथवा कठोर शब्दो मे जो शिक्षा देते हैं, उसमे मेरा हित समाहित है, मुझे ही लाभ है," ऐसा विचार कर विनीत शिष्य अत्यन्त सावधानीपूर्वक उन की शिक्षा को ग्रहण करे।

४९९

जो गुरु की आशातना नही करता, वह पूज्य है।

५००

जो साधक गुरुजनो की अवहेलना करता है, वह कभी बन्धन से मुक्त नही हो सकता।

५०१

विनीत शिष्य किसी भी व्यक्ति का तिरस्कार न करे, और न आत्म-प्रशसा ही करे। शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर के भी अभिमान न करे, यहाँ तक कि जाति, तप, अथवा वुद्धि का भी अहकार न करे।

५०२

जुते हुए अयोग्य बैल जैसे वाहन को भग्न कर देते हैं, वैसे ही दुर्बल धृतिवाले शिष्यो को धर्म-यान मे जोत दिया जाता है तो वे उसे तहस-नहस कर देते हैं।

५०३

जैसे दुष्ट घोडे को चलाते हुए उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही दुर्बुद्धि—अविनीत शिष्य को शिक्षा देता हुआ गुरु खिन्नता का अनुभव करता है।

५०४

जैसे उत्तम जाति के घोडे को हाँकते हुए उस का सवार आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार विनीत वुद्धिमान शिष्यो को शिक्षा देता हुआ गुरु प्रसन्न होता है।

५०५

जैसे दुष्ट घोडा चावुक की वार-वार अपेक्षा रखता है, वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन की वार-वार अपेक्षा न रखे।

५०६

जैसे विनीत घोडा चावुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इगित और आकार को देखकर अशुभ-प्रवृत्ति को छोड दे।

भिक्षाचरी

५०७

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रस ।
ण य पुप्फ किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पय ।।

५०८

एमे ए समणा मुत्ता, जे लोए सति साहुणो ।
विहगमा व पुप्फेसु, दाण-भत्तेसणे रया ।।

५०९

महुकारसमा बुद्धा, जे भवति अणिस्सिया ।
नाणा पिण्डरया दता, तेण वुच्चति साहुणो ।।

५१०

अलाभुत्ति न सोएज्जा, तवो त्ति अहियासए ।।

५११

न चरेज्ज वासे वासते, महियाए वा पडतिए ।
महावाए व वायते, तिरिच्छसपाइमेसु वा ।।

५१२

समुयाण चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया ।
नीय कुलमइक्कम्म, ऊसढ नाभिधारए ।।

५१३

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादते अमुच्छिए ।
न रसट्ठाए भुजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ।।

---

५०७ दश० १।२   ५०८. दश० १।३   ५०९ दश० १।५
५१० दश० ५।२।६   ५११. दश० ५।१।८   ५१२ दश० ५।२।२५
५१३. उत्त० ३५।१७

भिक्षाचरी

५०७

जिस प्रकार भ्रमर वृक्ष के फूलो से थोडा-थोडा रस पीता है, किसी पुष्प को म्लान नही करता और अपनी आत्मा को सन्तुष्ट कर लेता है।

५०८—५०९

उसी प्रकार लोक मे जो मुक्त श्रमण—साधु है, वे दाता द्वारा दिये हुए दान, आहार एव एषणा मे रत रहते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पो मे।
भ्रमर के समान बुद्ध पुरुष अनिश्रित होते है, वे किसी एक पर आश्रित नही होते, नानापिण्ड मे रत है, और जो दान्त है, वे अपने इन्ही गुणो के कारण साधु कहलाते हैं।

५१०

भिक्षु को यदि मर्यादानुसार निर्दोष भिक्षा न मिले तो शोक न करे, किन्तु "सहज ही तप होगा" ऐसा मानकर क्षुधा आदि परीषहो को सहन करे।

५११

वर्षा बरस रही हो, कुहरा छा रहा हो, आँधी चल रही हो और मार्ग मे जीव-जन्तु उड रहे हो, ऐसी स्थिति मे साधु भिक्षा के लिए अपने स्थान से बाहर न निकले।

५१२

साधु सदा समुदान (धनवान और गरीब घरो की) भिक्षा करे, वह निर्धन कुल का घर समझ कर, उसे टालकर धनवान के घर न जाय।

५१३

अलोलुप, रस मे अगृद्ध, जीभ का दमन करनेवाला, अमूर्च्छित महामुनि रसनेन्द्रिय के पोषण के लिए न खाए, बल्कि जीवन-निर्वाह के लिए आहार करे।

५१४

नाइ उच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकड पिण्ड, पडिगाहेज्जसजए॥

५१५

साण सूइअ गाविं, दित्त गोणं हय गय।
सडिम्भ कलह जुद्धं, दूरओ परिवज्जए॥

५१६

से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मन्दमणुव्विग्गो, अविक्खित्तेण चेयसा॥

५१७

एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवाय गवेसए॥

५१८

अह कोइ न इच्छेज्जा, तओ भुजिज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू, जय अप्परिसाडयं॥

५१९

असण पाणग वावि, खाइम साइम तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इम।

५२०

तारिसं भत्तपाण तु सजयाण अकप्पियं।
दितिय पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिस॥

५२१

अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा,
लद्धु न विकत्थयई स पुज्जो।

---

५१४ उत्त० १।३४ ५१५ दश० ५।१।१२ ५१६ दश० ५।१।२
५१७ उत्त० ८।१७ ५१८. दश० ५।१।९६ ५१९ दश० ५।१।४७
५२०. दश० ५।१।४८ ५२१ दश० ९।३।४

५१४

गृहस्थ के घर मे जाकर सयमी न अति ऊँचे से, न अति नीचे से, न अति समीप से और न अति दूर से प्रासुक—अचित और परकृत—दूसरो के निमित्त बना हुआ पिण्ड—आहार को ग्रहण करे।

५१५

जहाँ श्वान हो, तत्काल प्रसूता गाय हो उन्मत्त साड, हाथी अथवा घोडा हो, या जिस स्थान पर बालक खेल रहे हो, कलह हो रहा हो, युद्ध मच रहा हो, वहाँ साधु पुरुष को नही जाना चाहिए, बल्कि दूर से ही उसे त्याग देना चाहिये।

५१६

गाँव मे अथवा नगर मे भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि उद्वेगरहित बन कर शात चित्त से धीरे-धीरे चले।

५१७

सयमी साधक एषणा समिति का पालन करता हुआ गाँव मे अनियत-वृत्ति से अप्रमत्त हो कर गृहस्थो के घरो से गोचरी (भिक्षा) की गवेषणा करे।

५१८

आमत्रण देने के पश्चात् कोइ साधु आहार का इच्छुक न हो तो उक्त साधु अकेला ही चौडे मुखवाले प्रकाशयुक्त पात्र मे (भाजन) वस्तु नीचे न गिरे इस पद्धति से यतना-विवेक पुरस्सर आहार ग्रहण करे।

५१९—५२०

जिस आहार, जल, खाद्य, स्वाद्य के विषय मे जो साधु इस प्रकार जान जाय अथवा सुन ले कि यह दान के लिए, पुण्य के लिए याचको के लिए है, तो वह भक्त-पान उसके लिए अकल्पनीय होता है। अत उस दाता को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार-पानी मेरे लिये अकल्पनीय है।

५२१

भिक्षा न मिलने पर जो खेद प्रकट नही करता और मिलने पर प्रशसा नही करता वह पूज्य है।

५२२

महुघय व भुजिज्ज सजए।

५२३

न रसट्ठाए भुजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी।

५२४

भारस्स जाआ मुणि भुञ्जएज्जा।

५२५

पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए।

---

५२२. दश० ५।१।९७ ५२३. उत्त० ३५।१७ ५२४. सूत्र० १।७।२९
५२५. उत्त० ६।१६

५२२

सरस या नीरस-जैसा भी आहार समय पर उपलब्ध हो जाय, साधक उसे 'मधु-घृत' की तरह प्रसन्न चित्त से खाए।

५२३

मुनि स्वाद के लिए न खाए, वल्कि जीवन निर्वाह के लिए खाए।

५२४

मुनि सयमभार के निर्वाह करने के लिए ही आहार ग्रहण करे।

५२५

सयमी मुनि पक्षी की भाँति कल की अपेक्षा न रखता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए परिभ्रमण करे। ●

इन्द्रिय-निग्रह

५२६

चरेज्ज भिक्खू सुसमाहि इदिए।

५२७

इदियाइ वसेकाउ, अप्पाण उवसहरे।

५२८

कुजए अपराजिए जहा,
अक्खेहि कुसलेहि दीवयं।
कडमेव गहाय नो कलि,
नो तीयं नो चेव दावरं॥

५२९

एव लोगम्मि ताइणा, बुइए जे धम्मे अणुत्तरे।
त गिण्ह हियति उत्तम, कडमिव सेस वहाय पण्डिए॥

५३०

न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं,
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं।

---

५२६ उत्त० २१।१३ ५२७ उत्त० २२।४८ ५२८. सूत्र० १।२।२।२३
५२९ सूत्र० १।२।२।२४ ५३०. उत्त० ३२।१२

इन्द्रिय-निग्रह

५२६

भिक्षु सर्व इन्द्रियो को सुसमाहित करता हुआ विचरण करे।

५२७

पाँच इन्द्रियो को वश मे कर अपनी आत्मा का उपसहार करना चाहिए। अर्थात् प्रमाद की ओर बढती हुई आत्मा को पीछे हटा कर धर्मपथ पर स्थिर करनी चाहिए।

५२८—५२९

जुआ खेलने मे निपुण जुआरी जैसे "कृत" नामवाले पाशे को ही अपनाता है, 'कलि' 'द्वापर' और 'त्रेता' को नही, और अपराजित रहता है। वैसे ही पण्डित पुरुष भी इस लोक मे जगत्राता सर्वज्ञो ने जो उत्तम और अनुत्तर धर्म कहा है उसे ही अपने हितके लिए ग्रहण करे। शेप सभी धर्म-इन्द्रिय विषयो को उसी प्रकार छोड दे जिस तरह कुशल जुआरी 'कृत' के अतिरिक्त अन्य सभी पाशो को छोड देता है।

५३०

जिस प्रकार उत्तम जाति की औषधि रोग को नष्ट कर देती है, पुन उभरने नही देती। उसी प्रकार जितेन्द्रिय पुरुष के चित्त को राग तथा विषय रूपी कोई शत्रु सता नही सकता। ●

मनोनिग्रह

५३१

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।

५३२

एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह॥

५३३

सरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य।
मणं पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जय जई॥

५३४

मणगुत्तयाए ण जीवे एगग्ग जणयइ।

५३५

एगग्गचित्ते ण जीवे मणगुत्ते सजमाराहए भवइ।

५३६

जोग सच्चेण जोग विसोहेइ।

५३७

जे इदियाण विषया मणुन्ना, न तेसु भाव निसिरे कयाइ।

५३८

समाए पेहाए परिव्वयतो,
सिया मणो निस्सरई वहिद्धा।
न सा मह नोवि अह वि तीसे,
इच्चेव ताओ विणएज्ज राग॥

---

५३१ उत्त० २३।५८ ५३२ उत्त० २३।३६ ५३३ उत्त० २४।२१
५३४. उत्त० २९।५३ ५३५. उत्त० २९।५३ ५३६ उत्त० २९।५२
५३७ उत्त० ३२।२१ ५३८ दश० २।४

मनोनिग्रह

५३१

मन एक साहसिक, भयकर और दुष्ट घोडे के समान है, जो चारो तरफ दौडता रहता है।

५३२

एक को जीत लेने पर पांच जीते गए, पाँचो को जीत लेने पर दस जीते गए, दसो को जीत कर मैंने सभी शत्रुओ को जीत लिए हैं।

५३३

सयमशील मुनि सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवर्तमान मन को निवृत्त करे अर्थात् उसकी प्रवृत्ति को रोके।

५३४

मनोगुप्तता से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है।

५३५

एकाग्र-चित्त वाला जीव अशुभसकल्पो से मन की रक्षा करनेवाला तथा सयम की सम्यग् आराधना करनेवाला होता है।

५३६

योग सत्य से जीव मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध करता है।

५३७

इन्द्रियो के सुमनोज्ञ विषयो मे मन को कभी भी सलग्न न करे।

५३८

समदृष्टिपूर्वक सयम यात्रा मे विचरण करते हुये भी यदि कदाचित् सयमी पुरुष का मन सयममार्ग से विचलित होने लगे तो उस समय उसे यह विचार करना चाहिए कि "यह मेरी नही है और न मैं ही उनका हूँ।" इस प्रकार सुविचार के अकुश से मन मे उत्पन्न क्षणिक आसक्ति को दूर करे।

●

५३९

गारं पि य आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए ।
सामतं सव्वत्थ सुव्वए देवाणं गच्छे स लोगयं ॥

५४०

धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति ।

५४१

चत्तारि समणोवासगा—
अद्दागसमाणे, पडागसमाणे ।
खाणुसमाणे, खरकंटसमाणे ।

५४२

अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे,
अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे ।

५४३

उस्सिय फलिहा, अवगुय-दुवारा,
चियत्ततेउर - परघरपवेसा ।

५४४

अगारि सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥

---

५३९. सूत्र० १।२।३।१३ ५४० सूत्र० २।२।३९ ५४१. स्थान० ४।३
५४२. उव० ६।६ ५४३. उव० ५।५ ५४४ उत्त० ५।२३

श्रावक-धर्म

५३९

जो पुरुष अपने घर मे निवास करता हुआ भी श्रावक धर्म का पालन करता है, तथा प्राणातिपात आदि हिंसा से निवृत्त होता हुआ सर्व प्राणियो के प्रति समभाव रखता है वह देवलोक को प्राप्त होता है।

५४०

सद्गृहस्थ सदा धर्मानुकूल ही अपनी आजीविका करते हैं।

५४१

श्रमणोपासक की चार कोटियाँ है—

दर्पण के समान—स्वच्छ हृदयवाला।

पताका के समान—अस्थिर हृदयवाला।

स्थाणु के समान—मिथ्याग्रही।

तीक्ष्ण कटक के समान—कटुभाषी।

५४२

हे आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ रूप है, और यही परमार्थ है। अन्य सभी निस्सार है।

५४३

जिसका हृदयस्फटिक रत्न के समान निर्मल, दानादि लोक सेवा के लिए उदार चित्तवाला है और जिसके घर का द्वार सदा खुला रहता है। राजभवन से लेकर साधारण घरो तक वह नि शक होकर प्रवेश कर सकता है। ऐसा प्रतीतिमय (विश्राम योग्य) श्रावक का जीवन होता है।

५४४

श्रद्धाशील अगारी—गृहस्थ सामायिक के अगो का काया से सम्यक्रूप से पालन करे। दोनो पक्षो मे किये जाने वाले पौषध को एक दिन रात के लिए भी न छोडे।

५४५

सामाइएण सावज्जजोगविरइ जणयइ।

५४६

चउव्वीसत्थएण दसणविसोहिं जणयइ।

५४७

वन्दणएण नीयागोय कम्म खवेइ।
उच्चागोयं कम्म निबधइ॥

५४८

पडिक्कमणेण वयछिद्दाइ पिहेइ।

५४९

काउस्सग्गेण तीयपडुप्पन्न पायच्छित्त विसोहेइ।

५५०

पच्चक्खाणेण आसवदाराइं निरुम्भइ।

५५१

जस्स सामाणिओ अप्पा, सजमे णिअमे तवे।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासिअ॥

५५२

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासिअ॥

५५३

सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे।

---

५४५ उत्त० २९।८ ५४६ उत्त० २९।९ ५४७. उत्त० २९।१०
५४८ उत्त० २९।११ ५४९ उत्त० २९।१२ ५५०. उत्त० २९।१३
५५१. अनु० १२७ ५५२ अनु० १२८ ५५३ उत्त० २६।१०

५४५

सामायिक से जीव सावद्ययोग से विरति-निवृत्ति का उपार्जन करता है।

५४६

चतुर्विंशति-स्तव से जीव सम्यक्त्व की विशुद्धि को प्राप्त होता है।

५४७

वन्दना से जीव नीच कुल मे उत्पन्न होने जैसे कर्मो को क्षीण करता है। और ऊँचे कुल मे उत्पन्न करनेवाले कर्म का अर्जन करता है।

५४८

प्रतिक्रमण से जीव व्रत के छिद्रो को रोक देता है।

५४९

कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान के अतिचारो की विशुद्धि करता है।

५५०

प्रत्याख्यान से जीव आश्रव द्वार का निरोध करता है।

५५१

जिस साधक की आत्मा सयम मे, नियम मे, तथा तप मे तल्लीन है, उसी की वास्तविक सामायिक है। ऐसा केवली भगवन्त ने फरमाया है।

५५२

जो साधक त्रस और स्थावर सभी प्राणियो के प्रति समभाव रखता है, उसी की वास्तविक सामायिक है। ऐसा केवली भगवन्त ने फरमाया है।

५५३

स्वाध्याय करते रहने से समस्त दु खो से मुक्ति प्राप्त होती है। ●

ब्राह्मण कौन ?

५५४

कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।

५५५

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुस न वयई, जोउ, त वय वूम माहणं ।।

५५६

जो न सज्जइ आगंतु, पव्वयतो न सोयई ।
रमइ अज्ज-वयणम्मि, त वय वूम माहण ।।

५५७

चित्तमतमचित्त वा अप्प वा जइ वा वहु ।
न गिण्हेइ अदत्त जे, त वयं वूम माहण ।।

५५८

दिव्व-माणुसतेरिच्छ, जो न सेवइ मेहुण ।
मणसा काय-वक्केण, त वय वूम माहण ।।

५५९

जहा पोम्म जले जाय, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्त कामेहिं, त वय वूम माहणं ।।

५६०

वभचेरेण वभणो ।

---

५५४ उत्त० २५।३१ ५५५. उत्त० २५।२३ ५५६ उत्त० २५।२०
५५७ उत्त० २५।२४ ५५८. उत्त० २५।२५ ५५९ उत्त० २५।२६
५६०. उत्त० २५।३०

ब्राह्मण कौन ?

५५४

मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

५५५

जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय आदि किसी भी अशुभ सकल्प से असत्य नही बोलता उसे हम ब्राह्मण कहते है।

५५६

जो आनेवाले स्नेहीजनो मे आसक्त नही होता और जाने पर शोक नही करता। जो सदा आर्य वचनो मे रमण करता है। उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

५५७

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ थोडा या ज्यादा कितना ही क्यो न हो, स्वामी के दिये बिना चोरी से नही लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

५५८

जो देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुनभाव का मन, वचन और काया से कभी सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

५५९

जिस प्रकार जल मे उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नही होता, उसी प्रकार काम-भोग के वातावरण मे उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

५६०

ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है।

५६१

तवस्सिय किस दन्त, अवचियमससोणियं।
सुव्वय पत्तनिव्वाण, त वय बूम माहण ॥

५६२

अलोलुय मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं।
असमत्त गिहत्थेसु, त वय बूम माहण ॥

५६३

जायरूव जहामट्ठ, निद्धन्तमल-पावग।
राग-दोस-भयाईय, त वयं बूम माहण ॥

५६४

तसपाणे वियाणेत्ता, सगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेण, त वय बूम माहण ॥

---

५६१ उत्त० २५।२२ ५६२. उत्त० २५।२७ ५६३. उत्त० २५।२१
५६४ उत्त० २५।२२

५६१

जो तपस्वी कृश और इन्द्रियो का दमन करनेवाला है, जिसके मांस और रूधिर का अपचय हो चुका है, जो व्रतशील व शान्त है, उसको हम ब्राह्मण कहते है ।

५६२

जो मनुष्य लोलुप नही है, जो निर्दोष भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता है, जो गृह-त्यागी है, अकिंचन है, गृहस्थो मे अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।

५६३

जो अग्नि मे तपाकर शुद्ध किये हुए और घिसे हुए सोने की तरह विशुद्ध है तथा राग-द्वेष भय आदि दोषो से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।

५६४

जो त्रस और स्थावर जीवो को सक्षेप और विस्तार से भली-भाँति जानकर मन, वाणी और शरीर से उसकी हिंसा नही करता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

५६५

खामेमि सव्वेजीवा, सव्वे जीवा खमतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणइ ॥

५६६

आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणेय ।
जे जे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥

५६७

सव्वस्स समण सघस्स, भगवओ अजलि करिअसीसे ।
सव्वे खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहय पि ॥

५६८

सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्मनिहिअचित्तो ।
सव्वे खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहय पि ॥

५६९

पुढविसमो मुणी हवेज्जा ।

५७०

खमावणयाए ण पल्हायणभावं जणयइ ।

५७१

जस सचिणु खतिए ।

५७२

खतिएणं जीवे परिसहे जिणइ ।

५७३

हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न सजले ।

५७४

खंति सेविज्ज पडिए ।

५७५

पियमप्पिय सव्वतितिक्खएज्जा ।

---

५६५ पच प्रति० ५६६. पच प्रति० ५६७. पच प्रति०
५६८ पच प्रति० ५६९. दश० १०।१३ ५७०. उत्त० २९।१७
५७१ उत्त० ३।१३ ५७२. उत्त० २९।४६ ५७३ सूत्र० ९।३१
५७४ उत्त० १।९ ५७५ उत्त० २१।१५

क्षमा

५६५

मैं समस्त जीवो से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा प्रदान करें। मेरी सर्व जीवो के साथ मैत्री है, किसी के भी साथ मेरा वैर-विरोध नही है।

५६६

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और सार्धमिक बन्धुओ तथा कुल और गण के ऊपर मैंने जो भी कषाय-भाव किये हो, उसके लिए मैं मन, वचन और काय से क्षमा माँगता हूँ।

५६७

मैं नतमस्तक होकर समस्त पूज्य श्रमणसघ से अपने सर्व अपराधो की क्षमा माँगता हूँ। और उनके प्रति मैं भी क्षमाभाव रखता हूँ।

५६८

धर्म मे स्थिर चित्त होकर मैं सद्भावपूर्वक सर्व जीवो से अपने अपराधो की क्षमा माँगता हूँ, और उनके सब अपराधो को मैं भी सद्भाव पूर्वक क्षमा करता हूँ।

५६९

मुनि को पृथ्वी के समान क्षमाशील होना चाहिए।

५७०

क्षमापना से आत्मा मे अपूर्व हर्षानुभूति प्रगट होती है।

५७१

क्षमा से यश का (सयम) का सचय करें।

५७२

क्षमा से जीव परीषहो पर विजय प्राप्त कर लेता है।

५७३

साधक पुरुष पीटने पर क्रोध न करे तथा गाली आदि देने पर द्वेष न करे।

५७४

पण्डित पुरुष को क्षमा धर्म की आराधना करनी चाहिए।

५७५

साधक प्रिय, अप्रिय सब शन्तिपूर्वक सहन करे।

मृत्यु-कला

५७६

सेणे जहा वट्टयं हरे, एव आउखयम्मि तुट्टई ।

५७७

माणुस्स च अणिच्च, वाहि जरामरणवेयणापउर ।

५७८

जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख, जस्स वऽत्थि पलायण ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कखे सुए सिया ॥

५७९

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाते ।
फासे आणापाणू, सत्तविह भज्जए आउं ॥

५८०

सत्थग्गहण विसभक्खण च,
जलण च जल पवेसो य ।
अणायारभडसेवा,
जम्मण मरणाणि वधति ॥

५८१

न सतसति मरणते, सीलवता वहुस्सुया ।

५८२

काल अणवकखमाणे विहरइ ।

---

५७६ सूत्र० १।२।१।२ ५७७ औप० ३४ ५७८ उत्त० १४।२७
५७९. स्था० ७ ५८० उत्त० ३६।२६७ ५८१ उत्त० ५।२९
५८२. उपा० १।७३

मृत्यु-कला

५७६

जैसे वाज पक्षी तीतर को एक ही झपाटे मे मार डालता है, ठीक वैसे ही आयु क्षीण होने पर मृत्यु भी मनुष्य के प्राण हर लेता है।

५७७

मनुष्य देह अनित्य—क्षण भगुर है, तथा व्याधि-जरा-मरण और वेदना से पूर्ण है।

५७८

जिम की मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मृत्यु के मुख से भाग सकता हो, तथा जो यह जानता हो कि मैं नही मरूगा, वही कल की इच्छा कर-सकता है।

५७९

जीव मात कारणो से अकाल-मृत्यु को प्राप्त होता है—हार्दिक भावना के आघात से, शस्त्रादि के प्रहार से, अधिक आहार की मात्रा से, वेदना की अभिवृद्धि से, गडढे आदि मे गिरने से, कठोर वस्तु की सख्त चोट से, और श्वासोच्छ्वास के अवरुन्धन से।

५८०

जो शस्त्र के द्वारा, विष-भक्षण द्वारा, अग्नि मे प्रविष्ट होकर या पानी मे कूदकर आत्म-हत्या करता है और मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है, वह जन्म-मरण की परम्परा वढानेवाला होता है।

५८१

शीलवान और वहुश्रुत भिक्षु मृत्यु के क्षणो मे भी सत्रस्त नही होते।

५८२

आत्मार्थी साधक कष्टो से जूझता हुआ मृत्यु से अनपेक्ष वन कर रहे।

५८३—५८४

सन्तिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया।
अकाममरण चेव, सकाम मरण तहा॥
वालाण अकाम, तु, मरण असइ भवे।
पण्डियाण सकाम तु, उक्कोसेण सइ भवे॥

५८५

न य सखयमाहु जीविय।

५८६

जहा सागडिओ जाण, सम हिच्चा महापह।
विसम मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई॥

५८७

एव धम्म विउक्कम्म, अहम्म पडिवज्जिया।
वाले मच्चुमुह पत्ते, अक्ख भग्गे य सोयई॥

५८८

वालमरणाणि वहुसो, अकाममरणाणि चेव वहुयाणि।
मरिहति ते वराया, जिणवयण जे न जाणति॥

५८९

मरण हेच्च वयति पडिया।

५९०

माराभिसकी मरणा पमुच्चइ।

५९१

दुविह पि विइत्ताण, वुद्धा धम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीए सखाए, आरभाओ तिउट्टइ॥

५९२

ज किंचुवक्कम जाणे, आउखेमस्समप्पणो।
तस्सेव अतरद्धाए, खिप्प सिक्खिज्ज पडिए॥

---

५८३. उत्त० ५।२ ५८४ उत्त० ५।३ ५८५ सूत्र० १।२।३।१०
५८६ उत्त० ५।१४ ५८७ उत्त० ५।१५ ५८८. उत्त० ३६।२६१
५८९ सूत्र० १।२।३।१ ५९० आचा० १।३।१ ५९१. आचा० १।८।८।१
५९२ आचा० १।८।८।६

५८३—५८४

तत्त्वज्ञ पुरुषो ने मरण के दो स्थान कहे है—एक अकाम-मरण और दूसरा सकाम-मरण।

अज्ञानी वाल जीवो के अकाम मरण अनेक वार होता है, किन्तु पण्डितो के सकाम मरण उत्कर्पत एक वार ही होता है।

५८५

जीवन-धागा टूट जाने पर पुन जुड नही पाता।

५८६—५८७

जैसे कोई गाडीवान समतल राजपथ को जानता हुआ भी उसे छोडकर विपम-दुरूह मार्ग से चल पडता है और गाडी की धुरी टूट जाने के पश्चात शोकाकुल होता है।

इसी प्रकार धर्म का सुमार्ग छोड कर अधर्म के कुमार्ग को स्वीकार कर मृत्यु के मुख मे पडा हुआ अज्ञानी धुरी टूटे हुए गाडीवान की तरह शोकाकुल वनता है।

५८८

जो जीव जिन-वचनो से परिचित नही हैं, वे अभागे अनेकानेक वाल-मरण तथा अकाम-मरण करते रहते हैं।

५८९

पण्डित पुरुप ही मृत्यु की दुर्दम सीमा को लाघकर अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं।

५९०

जो व्यक्ति मृत्यु से सदा सतर्क रहता है वही उस से मुक्ति पा सकता है।

५९१

धर्म परायण वुद्धिमान साधक वाह्य और आभ्यतर तप का आचरण कर अनुक्रम से शरीर त्याग के अवसर को जान-कर सलेखना को स्वीकार कर के शरीर पोपण रूप-आरम्भ का परित्याग कर देते हैं।

५९२

सलेखना मे स्थित मुनि को यदि अपने जीवन का अन्त करनेवाले किसी विघ्न का ज्ञान हो जाए तो उस वुद्धिमान मुनि को सलेखना काल मे ही शीघ्र भक्त-परिज्ञा आदि का अनुष्ठान कर लेना चाहिए।

कषाय

५६३

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स ।।

५६४

अहे वयन्ति कोहेण, माणेण अहमागई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहाओ भय ।।

५६५

दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ।।

५६६

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जल ।

५६७

कोहा-इ-माण हणियाय वीरे ।
लोभस्स पासे निरय महत ।।

५६८

कोह माण च माय च, लोभ च पाववड्ढण ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ।।

---

५६३ दश० ८।४० ५६४ उत्त० ६।५४ ५६५ उत्त० ३२।८
५६६. उत्त० २३।५३ ५६७. आचा० ३।२।१ ५६८ दश० ८।३७

कषाय

५६३

अनिगृहीत क्रोध और मान तथा बढते हुए माया और लोभ—ये चारो ही कुत्सित कषाय पुनर्जन्म-रूपी वृक्ष की जडो का सिंचन करते है ।

५६४

क्रोध से जीव नीचे गिरता है, मान से जीव नीच गति पाता है, माया से जीव की सद्‌गति का नाश होता है और लोभ से जीव के लिए इस लोक और परलोक मे भय उत्पन्न होता है ।

५६५

जिसके मोह नही है, उसने दु ख का नाश कर दिया । जिसके तृष्णा नही है उसने मोह का नाश कर दिया । जिसके लोभ नही है उसने तृष्णा का नाश कर दिया । जिस के पास लोभ करने जैसा कुछ भी पदार्थ सग्रह नही है उसने लोभ का नाश कर दिया ।

५६६

कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ को अग्नि कहा है, उस को बुझाने के लिए श्रुत, शील और तप यह जल है ।

५६७

वीर ! क्रोध, मान, माया आदि विकारो का विनाश कर डालो, जिस मे भी लोभ का फल अति दारुण है । अत उनके परिणामो पर विचार करो ।

५६८

जो मनुष्य अपना हित चाहता है, वह पाप बढानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ इन आत्मघातक दोषो को सदा के लिए त्याग दे ।

५६६

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।

६००

जे एगं नामे से बहुं नामे,
जे बहुं नामे से एगं नामे ।

६०१

रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ।

६०२

कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ ।

६०३

चउक्कसायावगए स पुज्जो ।

६०४

जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे ।

६०५

न विरुज्झेज्ज केणइ ।

६०६

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा ।

---

५६६ सूत्र० १।६।२६ ६००. आचा० ३।४ ६०१ उत्त० ४।१२
६०२. उत्त० २६।३६ ६०३ दश० ६।३।१४ ६०४. आचा० २।१
६०५ सूत्र० १५।१३ ६०६. बृहत्कल्प० १।३५

५६६

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो अन्तरात्मा के भयकर दोष हैं।

६००

जो एक कषाय को नमाता है, जीतता है, वह मिथ्यात्वादि अनेक दोषो को जीत लेता है, और जो अनेको को जीत लेता है, वह एक कषाय को जीत लेता है।

६०१

क्रोध का निवारण करे, मान को दूर करे, माया का सेवन न करे, लोभ को त्यागे।

६०२

कषाय-प्रत्याख्यान-(त्याग) से जीव वीतराग-भाव को प्राप्त होता है।

६०३

जो चार कषाय से रहित है, वह पूज्य है।

६०४

जो गुण है वही मूलस्थान अर्थात् कषाय है, और जो कषाय हैं, वही गुण अर्थात् विषय-वासना है।

६०५

किसी के भी साथ वैर-विरोध मत रखो।

६०६

जो कषाय का उपशम करता है, वही वीतराग प्रभु के पथ का सच्चा आराधक होता।

क्रोध

६०७

पव्वयराइसमाण कोह अणुपविट्ठे जीवे,
काल करेइ णेरइएसु उववज्जति ।

६०८

कुद्धो · सच्च सील विणय हणेज्ज ।

६०९

अप्पाण पि न कोवए ।

६१०

कोहो पीइ पणासेइ ।

६११

उवसमेण हणे कोह ।

६१२

इमं णिरुद्धाउय सपेहाए,
दुक्ख य जाण अदु आगमेस्स,
पुढो फासाइ या फासे,
लोय य पास विफदमाण ।

६१३

विगिच कोह अविकपमाणे ।

---

६०७ स्था० ४।२ ६०८ प्रश्न० २।२ ६०९, उत्त० १।४०
६१०, दश० ८।३८ ६११, दश० ८।३९ ६१२ आचा० ४।३।१३६
६१३ आचा० ४।३।१३५

क्रोध

६०७

पर्वत की दरार के सदृश जीवन मे कभी नही मिटनेवाला उग्र क्रोध आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

६०८

क्रोधान्ध व्यक्ति सत्य, शील, और विनय का विनाश कर डालता है।

६०९

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करे।

६१०

क्रोध प्रीति का नाश करता है।

६११

शान्ति से क्रोध को जीतें।

६१२

क्रोध मनुष्य की आयु को नष्ट करता है तथा क्रोध से मानसिक दुःख होता है। क्रोधी मनुष्य पापकर्म को बाध कर नरक मे जाता है और वहाँ नाना प्रकार के दुःखो को भोगता है, यह समझकर क्रोध का त्याग करना चाहिए।

६१३

आत्मसाधक—कम्परहित होकर क्रोधादि कषाय को नष्ट कर के कर्मरूपी काष्ठ को जला डालता है।

६१४

चउहि ठाणेहि कोहुप्पत्ति सिया,
त जहा—खेत्तंपडुच्च,
वत्थुपडुच्च, सरीरपडुच्च,
उवहिंपडुच्च ।

६१५

चउपइट्ठिए कोहे पण्णत्ते,
त जहा—आयपइट्ठिए,
परपइट्ठिए, तदुभयपइट्ठिए,
अप्पइट्ठिए ।

६१६

नो कुज्झे नो माणे ।

६१७

जे कोहदसी से माणदसी ।

---

६१४ स्था० ४।१।२४९
६१५ स्था० ४।१।२४९
६१६. सूत्र० २।२।६
६१७ आचा० ३।४

६१४

क्रोध उत्पन्न होने के चार कारण—

१—क्षेत्र—नरकादि आश्रित। २—वस्तु—घर अथवा सचित्त-अचित्त मिश्र वस्तु आश्रित। ३—शरीर—कुरूपादि आश्रित। ४—उपधि—उपकरण आश्रित।

६१५

क्रोध के चार प्रकार—

१—आत्म-प्रतिष्ठित—अपनी भूल पर होनेवाला।

२—पर-प्रतिष्ठित—दूसरे के निमित्त से होनेवाला।

३—तदुभय-प्रतिष्ठित—दोनो के निमित्त से होनेवाला।

४—अप्रतिष्ठित—निमित्त के विना उत्पन्न होनेवाला।

६१६

आत्मार्थी साधक को क्रोध-मान नही करना चाहिए।

६१७

जिसके हृदय मे क्रोध है, उसके हृदय मे मान भी अवश्य है।

मान

६१८

सेलथंभ समाण माण अणुपविट्ठे जीवे,
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ॥

६१९

पन्नामय चेव तवोमय च, निन्नामए गोयमय च भिक्खू।
आजीवग चेव चउत्थमाहु, से पण्डिए उत्तमपोग्गले से ॥

६२०

अन्न जण पस्सइ विम्वभूय।

६२१

अन्न जण खिसइ वालपन्ने।

६२२

वालजणो पगब्भई।

६२३

माणविजएण मद्दव जणयइ।

६२४

उन्नयमाणे य नरे, महामोहे पमुज्झई।

---

६१८ स्था० ४।२ ६१९ सूत्र० १।१३।१५ ६२० सूत्र० १।१३।८
६२१. सूत्र० १।१३।१४ ६२२ सूत्र० १।११।२ ६२३ उत्त० २९।६८
६२४. आचा० ५।४

मान

६१८

पत्थर के खभे के समान जीवन मे कभी नही झुकनेवाला अभिमान आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है ।

६१९

प्रज्ञा-मद, तप-मद, गोत्र-मद, और आजीविका-मद—इन चार प्रकार के मदो को नही करनेवाला निस्पृह भिक्षु सच्चा पण्डित और पवित्रात्मा होता है ।

६२०

गर्वशील आत्मा अपने गर्व मे चूर हो कर दूसरो को सदा बिम्बभूत-परछाई के समान तुच्छ मानता है ।

६२१

जो अपनी बुद्धि के अहकार मे दूसरो की उपेक्षा करता है, वह मन्द-बुद्धि है ।

६२२

अहकार करना अज्ञानी का द्योतक है ।

६२३

मान को जीतने से जीव को नम्रता की प्राप्ति होती है ।

६२४

अहकार करता हुआ मनुष्य महामोह से विवेक शून्य होता है ।

६२५

वुद्धामो त्ति य मन्नता, अतए ते समाहिए।

६२६

जे माणदसी से मायादसी।

६२७

माणो विणयनासणो।

६२८

माण मद्दवया जिणे।

६२९

न तस्स जाई व कुलं व ताण,
नण्णत्थ विज्जाचरण सुचिण्ण।

---

६२५ सूत्र० ११।२५ ६२६ आचा० ३।४ ६२७. दश० ८।३८
६२८ दश० ८।३९ ६२९ सूत्र० १।१३।११

६२५

अज्ञानवश अपने आपको ज्ञानी समझनेवाला समाधि से बहुत दूर है।

६२६

जो मानवाला है उसके हृदय मे माया भी निवास करती है।

६२७

मान विनय-गुण का नाश करता है।

६२८

अहकार को नम्रता से जीतें।

६२९

गोत्राभिमानी को उसकी जाति व कुल शरणभूत नही हो सकते। मात्र ज्ञान और धर्म के सिवाय अन्य कोई भी रक्षा नही कर सकते।

माया

६३०

जइ वि य नगिणे किसे चरे, जइ वि य भुञ्जिय मासमतसो।
जे इह मायाहि मिज्जई, आगन्ता गब्भाय णन्तसो॥

६३१

माई पमाई पुण एइ गब्भ।

६३२

वसीमूलकेतणसमाण माय अणुपविट्ठे
जीवे काल करेइ णेरइएसु उववज्जति।

६३३

माया विजएण अज्जव जणयइ।

६३४

मायमज्जवभावेण।

६३५

माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी।

६३६

मायी विउव्वइ, नो अमायी विउव्वइ।

६३७

माया मित्ताणि नासेइ।

६३८

धम्मविसए वि सुहमा, माया होइ अणत्थाय।

---

६३० सूत्र० १।२।१।६ ६३१ आचा० १।३।१ ६३२ स्था० ४।२
६३३ उत्त० २६।६६ ६३४ दश० ८।३६ ६३५ भग० ५।४।२८
६३६. भग० १३।६ ६३७ दश० ८।३८ ६३८ ज्ञाता० १।८

माया

६३०

भले ही कोई नग्न रहे और देह को कृश करे, भले ही कोई मास-मास का अनशन करे, किन्तु जो अन्दर मे दम्भ-माया रखता है, वह जन्म-मरण के अनन्त चक्र मे भटकता है ।

६३१

मायावी और प्रमादी पुन —पुन गर्भ मे जन्म-मरण करता है ।

६३२

वास की जड की तरह गाठदार दम्भ, आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है ।

६३३

माया को जीत लेने से ऋजुता-सरलता प्राप्त होती है ।

६३४

सरलता से माया—कपट को जीते ।

६३५

मायावी जीव मिथ्यादृष्टि होता है, अमायावी सम्यग्दृष्टि ।

६३६

जिस के अन्तर मे माया का अश रहा हुआ है वही विकुर्वणा अर्थात् नानारूपो का प्रदर्शन करता है, जवकि माया-रहित सरलात्मा नही करता है ।

६३७

माया मित्रता का नाश करती है ।

६३८

धर्म के विषय मे की हुई सूक्ष्म-माया भी अनर्थ का कारण वनती है ।

लोभ

६३९

लोभो सव्वविणासणो।

६४०

इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमथू।

६४१

लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोस वयणाए।

६४२

सीह जहा व कुणिमेण, निब्भयमेग चरति पासेण।

६४३

किमिरागरत्तवत्थसमाण लोभ अणुपविट्ठे—
जीवे काल करेइ नेरइएसु उववज्जति।

६४४

लोभ संतोसओ जिणे।

६४५

लोभविजएण सतोस जणयई।

६४६

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढड।
दोमासकय कज्ज, कोडीए वि न निट्ठिय॥

---

६३९. दश० ८।३८ ६४०. स्था० ६।३ ६४१. आचा० २।३।१५।२
६४२ सूत्र० १।४।१।८ ६४३ स्था० ४।२ ६४४. दश० ८।३९
६४५ उत्त० २९।७० ६४६ उत्त० ८।१७

लोभ

६३९

लोभ सभी सद्‌गुणो का नाश कर देता है।

६४०

लोभ मुक्ति–पथ का अवरोधक है।

६४१

लोभ का प्रसग उपस्थित होने पर व्यक्ति सत्य को झुठला कर असत्य का आश्रय लेता है।

६४२

निर्भीक्-स्वतन्त्र विचरनेवाला सिंह भी मास के-लोभ से जाल मे फँस जाता है।

६४३

मजीठ के रग के समान जीवन मे कभी नही छूटनेवाला लोभ आत्मा को अधोगति (नरक) की ओर ले जाता है।

६४४

लोभ को सन्तोप से जीतना चाहिए।

६४५

लोभ को जीत लेने से सन्तोप की प्राप्ति होती है।

६४६

ज्यो-ज्यो लाभ होता है त्यो-त्यो लोभ भी वढता है, दो मासे सुवर्ण से पूरा होनेवाला कार्य करोड से भी पूरा नही हुआ।

६४७

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्ण पसुभिस्सह।
पडिपुण्ण नालमेगस्स, इइ विज्जा तव चरे॥

६४८

सुवण्ण-रूप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया॥

६४९

करेइ लोह, वेर वड्ढइ अप्पणो।

६५०

कसिण पि जो इम लोयं, पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥

---

६४७ उत्त० ६।४६ ६४८ उत्त० ६।४८ ६४९ आचा० २।५
६५०. उत्त० ८।१६
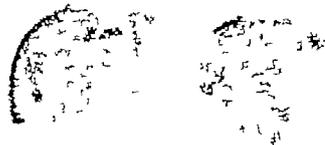
६४७

चावल, जौ आदि धान्यो, सुवर्ण तथा पशुओ से परिपूर्ण पृथ्वी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने मे असमर्थ है। यह जानकर तप, सयम का आचरण करना चाहिए।

६४८

कदाचित् सोने और चांदी के केलाश के समान विशाल असख्य पर्वत हो जायें तो भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए वे अपर्याप्त ही है। कारण कि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

६४९

जो व्यक्ति लोभ करता है वह अपनी ओर से चारो ओर वैर की अभिवृद्धि करता है।

६५०

बहु मूल्य पदार्थों से परिपूर्ण यह समुचा लोक यदि किसी मनुष्य को दे दिया, तो भी इससे उसे सन्तोष नही होगा। लोभी आत्मा की तृष्णा इस प्रकार शान्त होनी अत्यन्त कठिन है। ●

मोह

६५१

सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।
एव कम्मा न रोहति, मोहणिज्जे खय गते ॥

६५२

धसेइ जो अभूएण, अकम्म अत्त-कम्मुणा ।
अदुवा तुम कासित्ति, महामोह पकुव्वइ ॥

६५३

जाणमाणो परिसाए, सच्चामोसाणि भासइ ।
अक्खीण-झझे पुरिसे, महामोह पकुव्वइ ॥

६५४

ज निस्सिए उव्वहइ, जससाहिगमेण वा ।
तस्स लुब्भइ वित्तभि, महामोह पकुव्वइ ॥

६५५

वहुजणस्स णेयार, दीव-ताण च पाणिण ।
एयारिस नर हता, महामोह पकुव्वइ ॥

६५६

एग विगिचमाणे पुढो विगिचइ ।

---

६५१. दशा० ५।१४ ६५२ दशा० ६।८ ६५३. दशा० ६।६
६५४. दशा० ६।१५ ६५५ दशा० ६।१७ ६५६. आचा० १।३।४

मोह

६५१

जैसे वृक्ष की जड सूख जाने पर उसे कितना ही जल से सीचा जाय फिर भी वह हरा-भरा नही होता, वैसे ही मोहनीय कर्म के क्षीण होने पर पुन कर्म उत्पन्न नही होते ।

६५२

अपने द्वारा किये हुए दुष्कर्म को दूसरे निर्दोष व्यक्ति पर डाल कर उसे लाछित किया जाय और यह कहा जाय कि "यह पाप तू ने किया है" वह महामोह कर्मवन्ध का कारण वनता है ।

६५३

जो सत्य घटना को जानता हुआ भी सभा वीच अस्पष्ट एव मिश्र—भाषा का प्रयोग करता है, तथा कलह-द्वेष से प्रयुक्त है, वह महामोह रूप पापकर्म का वन्ध करता है ।

६५४

जिसके आश्रय तथा सहयोग से जीवनयात्रा चलती हो, उसी की सम्पत्ति का अपहरण करनेवाला दुष्ट-जन—महामोह कर्म का वन्ध करता है ।

६५५

जो वहु-जन समाज का नेता है तथा दु खसागर मे डूवे हुये दु खी मनुष्यो का जो द्वीप के समान आधार-भूत है, ऐसे महान उपकारी व्यक्ति की हत्या करनेवाला महामोह कर्म का उपार्जन करता है ।

६५६

जो मोह का नाश करता है वह अन्य अनेक कर्म विकल्पो का नाश करता है ।

राग-द्वेष

६६२

रागो य दोसो वि य कम्मवीय,
कम्म च मोहप्पभव वयति ।
कम्म च जाईमरणस्स मूल,
दुक्ख च जाईमरण वयति ।।

६६३

जीवाण दोहिं ठाणेहिं पावकम्म वधइ,
न जहा-रागेण चेव, दोसेण चेव ।

६६४

राग-दोसे य दो पावे, पावकम्म-पवत्तणे ।

६६५

राग-दोसस्सिया वाला, पाव कुव्वति ते वहु ।

६६६

छिदाहि दोस विणएज्ज राग,
एव सुही होहिसि सपराए ।

६६७

अन्धे व से दडपह गहाय,
अविओसिए घासति पावकम्मी ।

६६८

दुविहे वधे-पेज्जवधे चेव दोसवधे चेव ।

---

६६२. उत्त० ३२।७ ६६३ स्था० २।४ ६६४ उत्त० ३१।३
६६५. सूत्र० ८।८ ६६६ दश० २।५ ६६७ सूत्र० १।१३।५
६६८. स्था० २।४

राग-द्वेष

६६२

राग और द्वेप ये दोनो कर्म के बीज हैं। अत कर्म का उत्पादक मोह ही माना गया है। कर्म मिद्धान्त के विशिष्ट ज्ञानी यह कहते हैं कि ससार मे जन्म-मरण का मूल कर्म है और जन्म-मरण यही एक मात्र दुख है।

६६३

जीव दो कारणो से पापकर्म बाधते है--राग और द्वेष से।

६६४

राग और द्वेष ये दोनो पाप कार्यों की प्रवृत्ति कराने मे सहायक हैं।

६६५

अज्ञानी जीव राग-द्वेप से आवृत्त होकर विविध पाप-कर्म किया करते है।

६६६

द्वेष को नष्ट करो, और राग को दूर करो। ऐसा करने से ससार मे सुखी हो जाओगे।

६६७

अनुपशान्त राग-द्वेषवाला पापकर्मी जीव ससार मे उसी प्रकार पीडित होता है, जैसे विपममार्ग पर चलता हुआ अन्धा व्यक्ति।

६६८

दो प्रकार के वन्धन हैं--प्रेम का बन्धन और द्वेष का वन्धन।

६५७

सेणावइम्मि निहते, जहा सेणा पणस्सइ ।
एव कम्माणि णस्सति, मोहणिज्जे खय गए ।।

६५८

मदा मोहेण पाउडा ।

६५९

मोहेण गब्भ मरणाइ एइ ।

६६०

धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिंधणे ।
एव कम्माणि खीयति, मोहणिज्जे खय गए ।।

६६१

अणाणाय पुट्ठा वि एगे नियट्टंति,
मदा मोहेण पाउडा ।

---

६५७ दशा० ५ ६५८ सूत्र० ३।१।११ ६५९ आचा० ५।३
६६०. द० श्रु० ५।१२ ६६१ आचा० १।२।२

६५७

जिस प्रकार सग्राम मे सेनापति के मर जाने पर सारी सेना भाग जाती है, उसी प्रकार एक मोहकर्म के क्षय होने पर, सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।

६५८

अज्ञानी जीव मोह से आवृत होते हैं।

६५९

मोह से जीव बार बार जन्म-मरण के आवर्तन मे फंसता है।

६६०

जिस प्रकार अग्नि इन्धन के अभाव मे धूमरहित होकर क्रमश, विनाश को प्राप्त होती है उसी प्रकार मोहकर्म के क्षय होने पर अवशेष कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

६६१

मोहासक्त अज्ञानी साधक विपत्ति आने पर धर्म के प्रति अवज्ञा करते हुये पुनः ससार की ओर लौट पडते हैं। ●

६६९

न सक्का न सोउ सद्दा, सोतविसय मागया।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू-परिवज्जए ॥

६७०

न सक्का रूवमद्दट्ठु, चक्खुविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

६७१

न सक्का गंधमग्घाउ, नासाविसयमागय।
राग दोसाउ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

६७२

न सक्का रसमस्साउ, जीहाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

६७३

न सक्का फासमवेएउ, फासविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

६७४

अकुव्वओ णव णत्थि।

---

६६९ आचा० २।३।१५।१३१ ६७०. आचा० २।३।१५।१३२
६७१ आचा० २।३।१५।१३३ ६७२. आचा० २।३।१५।१३४
६७३. आचा० २।३।१५।१३५ ६७४ सूत्र० १।१५।७

६६९

यह सम्भव नही है कि कानो मे पडनेवाले अच्छे या बुरे शब्दो को न सुने जाय, बल्कि शब्दो के प्रति जगनेवाले राग-द्वेष का भिक्षु को परित्याग करना चाहिए।

६७०

यह सम्भव नही है कि आंखो के सामने आनेवाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाय, बल्कि रूप के प्रति जागृत होनेवाले राग-द्वेष का भिक्षु को परित्याग करना चाहिए।

६७१

यह सम्भव नही है कि नाक के समक्ष आया हुआ सुगन्ध या दुर्गन्ध सूंघने मे न आए, बल्कि गन्ध के प्रति जगने वाले राग-द्वेष की वृत्ति का भिक्षु को त्याग करना चाहिए।

६७२

यह सम्भव नही है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा, रस चखने मे न आए, वल्कि रस के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का भिक्षु को परित्याग करना चाहिए।

६७३

यह सम्भव नही है कि शरीर से स्पर्शित होनेवाले अच्छे या बुरे स्पर्श का अनुभव न हो, वल्कि स्पर्श के प्रति जगनेवाले राग-द्वेष का भिक्षु को परित्याग करना चाहिए।

६७४

जो आत्मा अपने भीतर मे राग-द्वेष रूप भाव-कर्म नही करता उसे नये कर्म का वन्ध नही पडता।

कर्मवाद

६७५-६७६

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ।।
नामकम्मं च गोत्तं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ।

६७७

सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता,
दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं,
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ।।

६७८

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति ।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति ।।

६७९

जह मिउलेवलित्तं गरुयं तुंबं अहो वयइ एवं ।
आसवकयकम्मगुरु, जीवा वच्चंति अहरगइं ।।

६८०

तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं ।
जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइठिया होंति ।।

---

६७५ उत्त० ३३।२।३ ६७६ उत्त० ३३।२।३ ६७७ सूत्र० १।१०।२०
६७८ औप० ५६ ६७९ ज्ञाता० ६ ६८० ज्ञाता० ६

कर्मवाद

६७५—६७६

ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय-इस प्रकार सक्षेप मे ये आठ कर्म वतलाये हैं।

६७७

जिस प्रकार वन मे विचरण करनेवाले मृग-शावक सिंह की आशका करते हुए उनसे दूर-दूर रहते हैं, उसी प्रकार मेधावी पुरुष धर्म-तत्त्व को समझने पर पाप-कर्म का दूर से ही परित्याग कर देता है।

६७८

अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है। बुरे कर्म का फल बुरा होता है।

६७९

जिस तुवे पर मिट्टी की परतें लगाने से वह भारी हो जाता है और पानी मे डुवाने पर डूब जाता है। ठीक वैसे ही हिंसा असत्य, चोरी, व्यभिचार, तथा मूर्च्छा-मोह आदि आश्रवरूपी कर्म करने से आत्मा पर कर्मरूपी मिट्टी की परतें जम जाती हैं। और यह भारी वनकर अधोगति को प्राप्त होती है।

६८०

यदि उसी तुवे की मिट्टी की परते हटादी जाय तो वह हलका होने के कारण पानी पर तैरने लग जाता है, वैसे ही यह आत्मा भी जव कर्म-वन्धनो से सर्वथा मुक्त हो जाती है, तव ऊर्ध्वगति प्राप्त कर लोक के अग्र-भाग पर जा कर स्थिर हो जाती है।

६८१

नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउ नियथस्स बंधो, संसारहेउं च वयंति बंधं॥

६८२

जहा दड्ढाण बीयाण, ण जायंति पुण अंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा॥

६८३

जह जीवा बज्झंति मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति।
जह दुक्खाण अंतकरेंति केई अपडिबद्धा॥

६८४

अट्टदुहट्टियचित्ता जह जीवा दुक्ख सागरमुवेंति।
जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडेंति॥

६८५

जह रागेण कडाण कम्माण पावगो फलविवागो,
जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति॥

६८६

सव्वे सयकम्मकप्पिया।

६८७

अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ।

---

६८१. उत्त० १४।१९ ६८२ दशा० ५।१५ ६८३ औप० ३४
६८४. औप० ३४ ६८५ औप० ३५ ६८६. सूत्र० १।२।३।१८
६८७ आचा० १।३।१

६८१

आत्मा अमूर्त है, इसलिए यह इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जा सकता। अमूर्त होने ने कारण ही आत्मा नित्य है, यह निश्चय है कि मिथ्यात्वादि कारणो से आत्मा को कर्म-बन्धन होता है और यह बन्धन ही ससार का हेतु है।

६८२

बीज के जल जाने पर उससे नवीन अकुर प्रस्फुटित नही हो सकता, वैसे ही कर्मरूपी बीजो के दग्ध हो जाने पर उसमे से जन्म-मरण-रूप अकुर प्रस्फुटित नही हो सकता।

६८३

जिस प्रकार जीव कर्म-बन्धन मे फँस जाते है, वैसे ही उनसे मुक्त भी हो जाते है और जैसे कर्म के सग्रह से असख्य कष्टो का सामना करना पडता है। वैसे ही कुछ कर्मों के विलग होने पर सर्व दु खो का अत हो जाता है—ऐसा ज्ञानियो ने कहा है।

६८४

जिस प्रकार आर्त-रौद्र ध्यान से विकल्प चित्तवाले जीव दु ख-सागर को प्राप्त होते हैं, वैसे ही वैराग्य प्राप्त जीव कर्म-दलिक को नष्ट कर डालते है।

६८५

जैसे राग-द्वेप द्वारा उपार्जित कर्म-फल कष्टप्रद होते हैं, वैसे ही सर्व-कर्मों के क्षय से जीव सिद्धावस्था प्राप्त कर सिद्धलोक मे अवस्थित हो जाता है।

६८६

प्राणी-मात्र अपने कृत-कर्मों के कारण ही विविध योनियो मे भ्रमण करते हैं।

६८७

जो साधक कर्म मे से अकर्म की दशा मे पहुँच चुका है, वह लोक व्यवहार की सीमा रेखा को लाघ गया है।

६८८

कम्मुणा उवाही जायइ।

६८९

कम्ममूल च ज छणं।

६९०

एगो सय पच्चणुहोइ दुक्ख।

६९१

ज जारिस पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति सपराए।

६९२

सकम्मुणा विप्परियासुवेइ।

६९३

तुट्टति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ।

६९४

वहुकम्मलेवलित्ताणं, वोही होइ सुदुल्लहा तेसिं।

६९५

कत्तारमेव अणुजाइ कम्म।

६९६

विहुणाहि रय पुरे कड।

६९७

सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय।

६९८

कम्मसगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया वहुवेयणा।

---

६८८. आचा० १।३।१ ६८९. आचा० १।३।१ ६९० सूत्र० १।५।२।२२
६९१. सूत्र० १।५।२।२३ ६९२. सूत्र० १।७।११ ६९३ सूत्र० १।१५।६
६९४ उत्त० ८।१५ ६९५ उत्त० १३।२३ ६९६. उत्त० १०।३
६९७ सूत्र० १।२।१।४ ६९८. उत्त० ३।६

६८८

कर्म से ही समस्त उपाधियाँ उत्पन्न होती है।

६८९

कर्म का मूल क्षण—हिंसा है।

६९०

आत्मा अकेला ही अपने कृतदु ख का भोक्ता है।

६९१

भूतकाल मे जैसा भी कर्म किया गया है, भविष्य मे वह उसी रूप मे समक्ष आता है।

६९२

ससार के सभी प्राणी अपने ही कृतकर्मों से कष्ट उठाते है।

६९३

जो नूतन कर्मों का बन्धन नही करता है, उसके पूर्वबद्ध पाप कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

६९४

जो आत्माएँ कर्मों से अत्यधिक लिप्त हैं उन्हे बोधि-(ज्ञान) प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

६९५

कर्मकर्ता के पीछे-पीछे सदा चलते रहते हैं।

६९६

पूर्वसचित कर्म-रूपी रज को दूर कर।

६९७

जीव अपने स्वय के उपार्जित कर्मजाल मे आबद्ध होता है। कृतकर्मों को भोगे बिना मुक्ति नही है।

६९८

जीव कर्मों के सग मूढ बनकर अत्यन्त वेदना तथा दु ख को प्राप्त होते हैं।

६९९

समावण्णाण ससारे, णाणागोत्तासु जाइसु।
कम्मा णाणाविहा कट्टु, पुढो विस्सभिया पया ॥

७००

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुर काय आहाकम्मेहिं गच्छई ॥

७०१

एगया खत्तिओ होई, तओ चडाल वुक्कसो।
तओ कीड - पयंगोय, तओ कुथु - पिवीलिया ॥

७०२

सव्वजीवाण कम्म तु, सगहे छद्दिसागय।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्व सव्वेण वज्झग ॥

७०३

अस्सि च लोए अदुवा परत्था,
सयग्गसो वा तह अन्नहा वा।

७०४

संसारमावन्न परं परं ते,
बधति वेदति य दुन्नियाणि।

७०५

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एव पया पेच्च इह च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥

---

६९९. उत्त० ३।२ ७००. उत्त० ३।३ ७०१ उत्त० ३।४
७०२. उत्त० ३३।१८ ७०३ सूत्र० १।७।४ ७०४ सूत्र० १।७।४
७०५ उत्त० ४।३

६६६

समारी जीव विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन कर विविध नामवाली जातियो मे उत्पन्न हो, ससार मे भिन्न-भिन्न स्वरूप का स्पर्श कर सब जगह उत्पन्न हो जाते हैं।

७००

यह जीव अपने कृतकर्मों के अनुसार कभी, देवलोक मे कभी नरक मे तो कभी असुरो के निकाय मे उत्पन्न होता है।

७०१

यह जीव किसी समय चाण्डाल, किसी समय वुक्कस [वर्णसकर जाति] किसी समय कीट, किसी समय पतङ्ग, किसी समय कुन्थु, और किसी समय चीटी भी वनता है।

७०२

सभी जीव अपने आस-पास छहो दिशाओ मे स्थित कर्म पुद्गलो को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्व प्रदेशो के साथ सर्व कर्मों का सर्व प्रकार से वन्धन हो जाता है।

७०३

कृत कर्म इस जन्म मे अथवा अगले जन्म मे जिस तरह भी किये गए हो, वे उसी प्रकार से अथवा अन्य प्रकार से फल अवश्य देते हैं।

७०४

ससार चक्र मे परिभ्रमण करता हुआ जीव अपने दुष्कृत्यो के कारण सतत नूतन कर्म बाँधता है तथा उसका फल भोगता है।

७०५

जैसे तस्कर सेन्ध के द्वार पर पकडा जाने पर अपने ही दुष्कर्म के कारण चीरा-मारा जाता है, वैसे ही पापाचारी जीव भी इस लोक तथा परलोक मे दोनो ही जगह भयकर कष्ट उठाता है। क्यो कि जो कर्म एक बार बाध लिये जाते हैं वे लाख प्रयत्न करने पर भी भोगे बिना छूट नही सकते।

सदाचार

७०६

चीराजिण नगिणिण, जडी सघाडि मुडिण।
एयाणि वि न तायति, दुस्सीलं परियागय ॥

७०७

भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिव।

७०८

न सतसति मरणते, सीलवंता वहुस्सुया।

७०९

भणता अकरेन्ता य, बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पय ॥

७१०

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासण।

७११

मा ण तुम पदेशी!
पुव्व रमणिज्जे भवित्ता, पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि।

---

७०६ उत्त० ५।२१ ७०७. उत्त० ५।२२ ७०८ उत्त० ५।२९
७०९. उत्त० ६।१० ७१०. उत्त० ६।११ ७११. राज प्र० ४।८२

सदाचार

७०६

चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटाधारीपन, सघाटी और सिर मुण्डाना—ये सब दुष्टशीलवाले साधक की रक्षा करने मे समर्थ नही होते ।

७०७

भिक्षु हो अथवा गृहस्थ, जो सुव्रती सदाचारी है, वह दिव्य देवगति को प्राप्त होता है ।

७०८

बहुश्रुत ज्ञानी और सदाचारी साधक मृत्यु के क्षणो मे भी सत्रस्त नही होते ।

७०९

बन्ध और मोक्ष की चर्चा करनेवाले दार्शनिक केवल वाणी के बल पर ही आत्मा को आश्वासन देते हैं । किंतु आचरण कुछ भी नही करते, वे केवल बोल कर ही रह जाते हैं ।

७१०

विविध भाषाओ का ज्ञान मनुष्य को दुर्गति से बचा नही सकता, तो फिर विद्याओ का अनुशासन कैसे किसी को बचा सकेगा ?

७११

हे राजन् ! तुम जीवन के पूर्वकाल मे रमणीय होकर उत्तरकाल मे अरमणीय मत बनना ।

७१२

जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एव दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥

७१३

कणकुडग चइत्ताण, विट्ठ भुजइ सूयरे ।
एव सील चइत्ताण, दुस्सीले रमई मिए ॥

७१४

तमे णाम एगे जोइ, जोई णाम एगे तमे ।

७१५

धम्मज्जिय च ववहार, बुद्धेहि आयरिय सया ।
तमायरतो ववहार, गरह नाभिगच्छइ ॥

---

७१२ उत्त० १।४ ७१३ उत्त० १।५ ७१४. स्था० ४।३
७१५ उत्त० १।४२

७१२

जैसे सड़े हुए कानोवाली कुतिया सभी स्थानो से निकाल दी जाती है, वैसे ही दु शील, उद्दड और वाचाल मनुष्य को सर्वत्र तिरस्कार करके निकाल दिया जाता है।

७१३

जिस प्रकार सूअर चावलो का स्वादिष्ट भोजन छोडकर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य सदाचार को छोडकर दुराचार मे रमण करना पसद करता है।

७१४

कभी-कभी अज्ञान-अन्धकार मे भी सदाचार की ज्योति जल उठती है और कभी-कभी ज्ञान-ज्योति पर दुराचार का अन्धकार भी छा जाता है।

७१५

जो व्यवहार धर्म-सगत है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया उस व्यवहार-सदाचार का आचरण करनेवाला मनुष्य कभी भी निन्दा का पात्र नही होता।

साधक-जीवन

७१६

सातागारव णिहुए, उवसतेऽणिहे चरे।

७१७

अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्प भासेज्ज सुव्वए।

७१८

सीहत्ताते णाम एगे णिक्खते सीहत्ताते विहरइ।
सीहत्ताते णाम एगे णिक्खते सियालत्ताए विहरइ।
सियालत्ताए णाम एगे णिक्खते सीहत्ताए विहरइ।
सियालत्ताए णाम एगे णिक्खते सियालत्ताए विहरइ।

७१९

सएण लाभेण तुस्सइ,
परस्स लाभं णो आसाएइ···
दोच्चा सुहसेज्जा।

७२०

अदीणो वित्तिमेसेज्जा, न विसीएज्ज पडिए।

७२१

पूयणट्ठी जसोकामी, माणसमाणकामए।
वहुं पसवई पाव, मायासल्ल च कुव्वइ॥

---

७१६ सूत्र० १।८।१८ ७१७ सूत्र० १।८।२५ ७१८. स्था० ४।३
७१९ स्था० ४।३ ७२० दश० ५।२।२६ ७२१. दश० ५।२।३५

साधक-जीवन

७१६

साधक सुख-सुविधा की भावना से दूर होकर उपशात तथा माया रहित बन कर विचरण करे।

७१७

सुव्रती साधक कम खाये कम पीये, तथा कम बोले ।

७१८

कुछ साधक सिहवृत्ति से साधना पथ पर आते हैं, और सिह-वृत्ति से ही रहते हैं ।

कुछ सिहवृत्ति से आते है, किंतु बाद मे शृगालवृत्ति अपना लेते है ।
कुछ शृगालवृत्ति से आते हैं, किंतु बाद मे सिहवृत्ति अपना लेते हैं ।
कुछ शृगालवृत्ति लिए आते हैं और शृगालवृत्ति से ही चलते रहते हैं।

७१९

जो साधक अपने इच्छित फल की प्राप्ति मे सन्तुष्ट रहता है और दूसरो के लाभ की आकाक्षा नही रखता वह सुखपूर्वक सोता है ।

७२०

ज्ञानी आत्मा अदीनभाव से भिक्षा की गवेपणा करे, किसी भी स्थिति मे मन मे विषाद न आने दे ।

७२१

जो साधक पूजा-प्रतिष्ठा के चक्कर मे पडा है, यश का कामी है, मान-सम्मान का पिपासु है, उनके लिये अनेक प्रकार का दम्भ रचता हुआ बहुत पाप कर्म का सचय करता है ।

७२२

अणुमाय पि मेहावी, मायामोस विवज्जए।

७२३

नो सिलोगाणुवाई,
नो सातसोक्खपडिवद्धे यावि भवइ।

७२४

जया मुण्डे भवित्ताण, पव्वयइए अणगारिय।
तया संवरमुक्किट्ठ, धम्म फासे अणुत्तर॥

७२५

तयस व जहाइ से रय।

७२६

पोक्खरपत्त व निरुवलेवे···
आगास चेव निरवलबे····।

७२७

णेम चित्त समादाय, भुज्जो लोयसि जायइ।

७२८

ओम चित्त समादाय, झाण समुप्पज्जइ।

७२९

अप्पाहारस्स दतस्स, देवा दसेति ताइणो।

७३०

अणभिक्कत च वय सपेहाए, खण जाणाहि पडिए।

---

७२२. दश० ५।२।४९ ७२३ स्था० ९ ७२४ दश० ४।१९
७२५ सूत्र० १।२।२।२ ७२६ प्रश्न० २।५ ७२७ दशा० ५।२
७२८ दशा० ५।१ ७२९. दशा० ५।४ ७३०. आचा० १।२।१

७२२

आत्मार्थी साधक अणुमात्र भी माया-मृषा का सेवन न करे।

७२३

साधक कभी भी यश-प्रतिष्ठा, प्रशसा और दैहिक सुखो के पीछे न पडे।

७२४

जव साधक सिर मुण्डवाकर अनगार धर्म को स्वीकार करता है, तब वह उत्कृष्ट सयमरूपी धर्म का आचरण कर सकता है।

७२५

जिस प्रकार नागराज अपनी केंचुली को छोड देता है, उसी प्रकार आत्मस्थ साधक अपनी कर्म रज को झाड देता है।

७२६

आत्मार्थी साधक को जल-कमल की तरह निर्लेप और आकाश की तरह निरवलम्ब होना चाहिये।

७२७

निर्मल चित्तवाला साधक लोक मे पुन जन्म नही लेता।

७२८

चित्त की निर्मलता से ही ध्यान की सही अवस्था प्राप्त होती है। जो बिना किसी द्वन्द्व—विमनस्कता के निर्मल मन से धर्म मे स्थिर है, वह निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त करता है।

७२९

जो अल्पाहारी है, इन्द्रियविजेता है, समस्त जीवो के प्रति रक्षा की भावना रखता है, उस साधक के दर्शन हेतु देव भी लालायित रहते हैं।

७३०

हे पण्डित साधक! जीवन के जो क्षण वीत गये सो वीत गये। अवशेष जीवन को ही लक्ष्य मे रखते हुए प्राप्त अवसर का तू सदुपयोग कर।

७३१

इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना
नो हव्वाए नो पाराए।

७३२

सुमणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे।

७३३

वुच्चमाणो न संजले।

७३४

अच्चणं रयणं चेव, वन्दण पूअण तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माण, मणसा वि न पत्थए॥

७३५

जस कित्ति सिलोग च, जा य वदण-पूयणा।
सव्वलोयसि जे कामा, तं विज्ज परिजाणिया॥

---

७३१ आचा० १।२।२ ७३२. सूत्र० १।६।३१ ७३३. सूत्र० १।६।३१
७३४ उत्त० ३५।१८ ७३५. सूत्र० १।६।२२

७३१

पुन-पुन मोह-ग्रस्त होनेवाला साधक न इस पार—इस लोक का रहता है और न उस पार—परलोक का रहता है ।

७३२

साधक को कैसा भी कष्ट हो, वह प्रसन्न मन से सहन करे, कोलाहल-क्रन्दन न करे ।

७३३

साधक को यदि कोई दुर्वचन कहे तो भी वह उस पर गरम न हो अर्थात् क्रोध न करे ।

७३४

सयमी साधक अर्चना, रचना, वन्दना, पूजा, ऋद्धि सत्कार और सम्मान की मन से भी अभिलाषा न करे ।

७३५

यश, कीर्ति, प्रशसा, वन्दन, पूजन और ससार के जितने भी काम-भोग है, विद्वान् साधक आत्मघातक समझ कर इन सब का परित्याग कर दे ।

शिक्षा और व्यवहार (३)

शिक्षा

७३६

विवत्ती अविणीयस्स, सपत्ती विणियस्स य ।
जस्सेय दुहओ नायं, सिक्ख से अभिगच्छइ ॥

७३७

जे आयरियउवज्झायाणं, सुस्सूसावयणकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥

७३८

अह पचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥

७३९

गिहिवासे वि सुव्वए ।

७४०

पियकरे पियवाई, से सिक्खं लद्धुं गरिहई ।

७४१-७४२

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलेत्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सयादन्ते, ण य मम्ममुदाहरे ॥
णासीले ण विसीले, ण सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलेत्ति वुच्चइ ॥

७४३

संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ।

७४४

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुंजन्तो, भासन्तो, पाव-कम्मं न बंधइ ?

---

७३६ दश० ९।२।२१   ७३७ दश० ९।१२   ७३८ उत्त० ११।३
७३९ उत्त० ५।२४   ७४० उत्त० ११।१४   ७४१ उत्त० ११।४
७४२ उत्त० ११।५   ७४३ दश० ५।१।१६   ७४४ दश० ४।७

७३६

अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और सुविनीत को सम्पत्ति। जिसने ये दोनो बाते जान ली है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

७३७

जो मुनि आचार्य, और उपाध्याय की सेवा-सुश्रुषा तथा उनकी आज्ञा का पालन करता है, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढती है, जैसे जल से सीचा हुआ वृक्ष।

७३८

अहकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य इन स्थानो—कारणो से शिक्षा प्राप्त नही होती।

७३९

धर्मशिक्षा से समापन्न मनुष्य गृहवास मे भी सुव्रती है।

७४०

जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है—वह अपनी अभीष्ट शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

७४१—७४२

आठ प्रकार से साधक को शिक्षाशील कहा जाता है। जो हास्य न करे, जो सदा इन्द्रिय और मन का दमन करे, जो मर्म-प्रकाश न करे, जो चरित्र से हीन न हो, जिसका चरित्र दोषो से कलुपित न हो, जो रसो मे अति लोलुप न हो, जो क्रोध न करे, और जो सत्य मे रत हो।

७४३

जिस जगह क्लेश-सघर्ष की सभावना हो, उस स्थान से सदा दूर रहना चाहिये।

७४४

भन्ते! कैसे चले? कैसे खडा हो? कैसे बैठे? कैसे सोये? कैसे खाये? कैसे बोले? जिससे कि पाप-कर्म का वन्ध न हो!

७४५

जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जय भुजन्तो भासन्तो, पाव-कम्म न वधइ ॥

७४६

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥

७४७

सड्ढी आणाए मेहावी ।

७४८

इह आणाकखी पडिए अणिहे ।

७४९

निद्देस नाइवट्टेज्जा मेहावी ।

७५०

आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभय ।

७५१

निट्ठियट्ठे वीरे आगमेण,
सया परक्कमेज्जासि त्ति वेमि ।

७५२

इच्छा लोभ न सेविज्जा ।

७५३

लज्जा - दया - सजम-बभचेर,
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाण ।

---

७४५ दश० ४।८ | ७४६. उत्त० ११।१२ | ७४७ आचा० ३।४
७४८ आचा० ४।३ | ७४९ आचा० ५।६ | ७५० आचा० ६।३
७५१ आचा० ५।६ | ७५२ आचा० ८।८।२३ | ७५३. दश० ९।१।१३

७४५

आयुष्मन् ! यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खडा होने, यतनापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक सोने, यतनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलनेवाला पाप-कर्म का बन्धन नही करता ।

७४६

सुशिक्षित व्यक्ति स्खलना होने पर भी किसी पर दोषारोपण नही करता और न कभी मित्रो पर क्रोध ही करता है। यहाँ तक कि अप्रिय मित्र की परोक्ष मे भी प्रशसा ही करता है।

७४७

प्रभु की आज्ञा पालन करने मे जो व्यक्ति श्रद्धा-शील होता है, वह मेधावी बुद्धिमान कहलाता है।

७४८

जो प्रभु-आज्ञा की सम्यग् आराधना करता है, वह पण्डित है तथा पापकर्मों से अलिप्त रहता है।

७४९

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह भगवान की आज्ञा का उल्लघन न करे।

७५०

आप्त पुरुषो द्वारा बताए हुए तत्व को जानकर तदनुसार कार्य करने-वाले को कही भी भय की स्थिति का सामना नही करना पडता ।

७५१

श्रद्धाशील वीरपुरुष को शास्त्रानुसार सदा पराक्रम करना चाहिये ।

७५२

इच्छा तथा लोभ का सेवन नही करना चाहिए ।

७५३

कल्याणभागी के लिये लज्जा, दया, सयम और ब्रह्मचर्य—ये आत्म-विशुद्धि के साधन है ।

७५४

आयारपन्नत्तिधर, दिट्ठिवायमहिज्जग ।
वायविक्खलिय नच्चा, न त उवहसे मुणी ॥

७५५

सव्वत्थ विणीयमच्छरे ।

७५६

अहिगरण न करेज्ज पडिए ।

७५७

चत्तारि अवायणिज्जा पण्णत्ता, त जहा
अविणीए, विगइपडिवद्धे,अविउसवियपाहुडे,मायी ।

७५८

ज छन्न त न वत्तव्व ।

७५९

अट्ठावय न सिक्खिज्जा, वेहाइय च णो वए ।

७६०

जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हे वि होहिहा जहा अम्हे ।
अप्पाहेइ पडत, पडुअ - पत्त किसलयाण ॥

---

७५४ दश० ८।५० ७५५. सूत्र० २।३।१४ ७५६ सूत्र० २।२।१९
७५७. स्था० ४।३।३२६ ७५८ सूत्र० १।९।२६ ७५९ सूत्र० १।९।१७
७६० अनुयोगद्वार, प्रमाणाधिकार

७५४

आचार प्रज्ञप्ति का ज्ञाता—वाक्य-रचना के नियमो को जानने वाला तथा दृष्टिवाद का अध्ययन करनेवाला मुनि भी कदाचित बोलते समय वचन से स्खलित हो जाय तो उनके अशुद्ध वचन को जानकर मुनि उनकी हँसी न करे।

७५५

साधक सर्वत्र मत्सर-ईर्ष्याभाव रहित रहे।

७५६

पण्डित पुरुप को कभी किसी से कलह-झगडा नही करना चाहिये।

७५७

चार व्यक्ति शिक्षा देने के अयोग्य कहे हैं, अविनीत, स्वादेन्द्रिय मे गृद्ध, क्रोधी, और कपटी।

७५८

किसी की कोई गोपनीय बात हो तो उसे कभी प्रकट नही करनी चाहिए।

७५९

जुआ खेलना मत सीखो, और धर्म के विरुद्ध मत बोलो।

७६०

पीतवर्ण (पीला) पत्ता पृथ्वी पर गिरता हुआ अपने साथी हरे पत्तो से कहता है—"मेरे साथी! आज जैसे तुम हो एक दिन हम भी ऐसे ही थे, और आज जैसे हम हैं एक दिन तुम्हे भी ऐसा ही होना होगा"।

मनुष्य-जन्म

७६१

तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा,
माणुस्स भव, आरिए खेत्त जम्म,
सुकुलपच्चायाइ ?

७६२

चत्तारि फला—
आमे णाम एगे आममहुरे।
आमे णाम एगे पक्कमहुरे।
पक्के णाम एगे आममहुरे।
पक्के णाम एगे पक्कमहुरे।

७६३

चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जतुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरिय॥

७६४

जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययति मणुस्सय!

७६५

दुल्लहे खलु माणुसेभवे।

७६६

चउहिठाणेहि जीवा माणुसत्ताए कम्म पगरेति—
पगइ भद्दयाए, पगइ विणीययाए,
साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए।

७६७

पुव्वकम्मखयट्ठाए, इम देह समुद्धरे।

---

७६१ स्था० ३।३।५२ ७६२ स्था० ४।१।१६ ७६३ उत्त० ३।१
७६४ उत्त० ३।७ ७६५ उत्त० १०।४ ७६६ स्था० ४।४
७६७ उत्त० ६।१४

मनुष्य-जन्म

७६१

देव भी तीन बातो की अभिलाषा रखते हैं—मनुष्य-जीवन, आर्य-क्षेत्र मे जन्म और श्रेष्ठकुल की प्राप्ति ।

७६२

चार प्रकार के फल—
कुछ फल कच्चे होकर भी मधुर होते है। कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते हैं। कुछ फल पके होकर भी थोडे मधुर होते हैं और कुछ फल पके होने पर अतिमधुर होते हैं।
फल के समान ही मनुष्य के भी चार प्रकार होते हैं—कुछ मनुष्य छोटी उम्र मे साधारण समझदार होते हैं, कुछ मनुष्य छोटी उम्र मे बडी उम्रवालो की तरह बुद्धिमान व दक्ष होते है। कुछ मनुष्य बडी उम्र मे भी कम समझदार होते हैं। कुछ मनुष्य बडी उम्र मे पूर्ण समझदार होते है।

७६३

इस ससार मे प्राणियो के लिए चार अग परम दुर्लभ कहे हैं—मनुष्यत्व, श्रुति (धर्म श्रवण) श्रद्धा और सयम मे पुरुषार्थ ।

७६४

ससार मे आत्माएँ क्रमश विकास को प्राप्त करते-करते मनुष्यभव को प्राप्त करती हैं।

७६५

मनुष्य जन्म मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

७६६

चार प्रकार के मानवीय कर्म से आत्मा मनुष्य जन्म प्राप्त करता है—सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता ।

७६७

पूर्व सचित कर्मों के क्षय के लिए ही यह देह धारण करनी चाहिए।

भाषा-विवेक

७६८

अणुवीइभासी से निग्गथे।

७६९

अणुचिंतिय वियागरे।

७७०

विभज्जवाय च वियागरेज्जा।

७७१

नाइवेल वएज्जा।

७७२

इमाइ छ अवयणाइ वदित्तए—
अलियवयणे, हीलियवयणे, खिसितवयणे, फरुसवयणे
गारत्थियवयणे, विउसवित वा पुणो उदीरित्तए।

७७३

मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमथू।

७७४

जमट्ठ तु न जाणेज्जा, एवमेयति नो वए।

७७५

मियं अदुट्ठ अणुवीइ भासए,
सयाणमज्झे लहई पससण।

---

७६८. आचा० २।३।१५।२ ७६९. सूत्र० १।९।२५ ७७०. सूत्र० १।१४।२२
७७१ सूत्र० १।१४।२५ ७७२ स्था० ६।३ ७७३. स्था० ६।३
७७४ दश० ७।५५ ७७५ दश० ७।५५

भाषा-विवेक

७६८

जो विचार पुरस्सर बोलता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ है ।

७६९

जो कुछ बोला जाय—पहले विचार कर बोलना चाहिए ।

७७०

चिन्तनशील पुरुष सदा विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद को सलक्षित कर वचन का प्रयोग करे ।

७७१

साधक आवश्यकता से अधिक न बोले ।

७७२

साधक को छ तरह के वचन नही बोलने चाहिये—असत्य वचन, तिरस्कारमय वचन, झिडकते हुए वचन, कर्कश-कठोर वचन, अविचार-पूर्ण वचन, शान्त हुए कलह को फिर से उद्बुद्ध करनेवाले वचन ।

७७३

वाचालता सत्य वचन का विघात करनेवाली होती है ।

७७४

जिस बात का स्वय को परिज्ञान नही है, उस के सम्बन्ध मे "यह ऐसा ही है" इस प्रकार निश्चयात्मक वचन न बोले ।

७७५

जो विचार पुरस्सर और परिमित भाषा बोलता है वह सज्जनो द्वारा प्रशसा प्राप्त करता है ।

७७६

जत्थ सका भवे त तु, एवमेयति नो वए ।

७७७

वइज्ज वुद्धे हियमाणुलोमिय ।

७७८

राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा
नो अतरा भास भासिज्जा ।

७७९

न य वुग्गहिय कह कहिज्जा

७८०

ओहारिणि अप्पियकारिणि च
भास न भासेज्ज सया स पुज्जो ।

७८१

मुहुत्तदुक्खा हु हवति कटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबधीणि महब्भयाणि ॥

७८२

अणासए जो उ सहेज्ज कटए ।
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ।

७८३

नापुट्ठो वागरे किंचि ।

७८४

वहुय मा य आलवे ।

---

७७६. दश० ७।६ ७७७. दश० ७।५६ ७७८ उत्त० २।३।३
७७९ दश० १०।१० ७८०. दश० ९।३।९ ७८१. दश० ९।३।७
७८२ दश० ९ ३।६ ७८३. उत्त० १।१४ ७८४ उत्त० १।१०

७७६

जिस अर्थ मे अपने को कुछ भी शका जैसा लगता हो, उस के बारे मे "यह ऐसा ही है" इस प्रकार निश्चित भाषा का प्रयोग न करे।

७७७

प्रबुद्ध भिक्षु ऐसी भाषा बोले जो सभी के लिए हितकर और प्रियकर हो।

७७८

अपने से बडे गुरुजन जब बोलते हो या विचारचर्चा करते हो तो उन के बीच न बोले।

७७९

कलह बढानेवाली बात नही कहनी चाहिए।

७८०

जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा का प्रयोग नही करता वह पूज्य है।

७८१

लोहे के काँटे अल्पकाल तक दु ख देनेवाले होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं। किन्तु दुष्ट और कठोर वाणी-रूपी काँटे सहजतया नही निकाले जा सकते, वे जन्म-जन्मान्तर के वैर की परम्परा को बढानेवाले महाभयानक होते हैं।

७८२

जो कानो मे प्रवेश करते हुए वचनरूपी काँटो को सहन करता है, वही पूज्य है।

७८३

बिना बुलाए बीच मे कुछ नही बोलना चाहिए।

७८४

बहुत नही बोलना चाहिए।

७८५

वयगुत्तयाए ण णिव्विकारत्त जणयई ।

७८६

अणणुवीइभासी से निग्गथे,
समावइज्जा मोस वयणाए ।

७८७

नो वयण फरुस वइज्जा ।

७८८

अपुच्छिओ न भासेज्जा ।

७८९

सरम्भे समारम्भे, आरम्भे य तहेव य ।
वय पवत्तमाण तु, नियत्तिज्ज जय जई ।

७९०

न भासेज्जा, भासमाणस्स अन्तरा ।

७९१

मुसाभासा निरत्थिया ।

७९२

दिट्ठं मिअ असदिद्ध, पडिपुन्न विअजिअ ।

७९३

सुवक्कसुद्धि समुपेहिया मुणी,
गिर च दुट्ठ परिवज्जए सया ।

---

७८५ उत्त० २९।५४ ७८६ आचा० २।३।१५।२ ७८७ आचा० २।१।६
७८८ दश० ८।४७ ७८९ उत्त० २४।२३ ७९०. दश० ८।४७
७९१ उत्त० १८।२६ ७९२. दश० ८।४९ ७९३ दश० ७।५५

७८५

वचनगुप्ति से निर्विकार-अवस्था प्राप्त होती है।

७८६

जो साधक विचार पुरस्सर नही बोलता, उसका वचन कभी न कभी असत्य के दूपण से दूषित हो सकता है।

७८७

कभी कठोर वचन नही वोलना चाहिए।

७८८

विना पूछे नही वोलना चाहिए।

७८९

यतनाशील यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवर्तमान वाणी का निवर्तन-नियन्त्रण करे।

७९०

गुरुजन किसी से वातचीत कर रहे हो, तब वीच मे नही बोलना चाहिए।

७९१

झूठवाली भाषा निरर्थक है।

७९२

आत्मार्थी साधक दृष्ट [अनुभूत] परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे।

७९३

मुनि सदा वचन-शुद्धि का विचार करे तथा दोषयुक्त वाणी का परित्याग करे।

७६४

भासाइ दोसे य गुणेय जाणिया,
तीमे य दुट्ठे परिवज्जए सया।

७६५

पिट्ठिमस न खाइज्जा।

७६६

न लविज्ज पुट्ठो सावज्ज, न निरट्ठा न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्संतरेण वा॥

७६७

देवाण मणुयाण च, तिरियाण च वुग्गहे।
अमुगाण जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए॥

---

७६४ दस० ७।५६ ७६५ दस० ८।४७ ७६६. उत्त० १।२५
७६७ दस० ७।५०

७६४

भापा के दोप और गुणो को जानकर दोषपूर्ण भाषा को सदा के लिए छोड देना चाहिये।

७६५

किसी की पीठ पीछे चुगली नही खाना चाहिए, क्योकि यह दोप पीठ का मांस नोचने के समान है।

७६६

यदि कोई पूछे तो अपने लिये अथवा अन्य के लिये, अथवा—दोनो के लिए, स्वप्रयोजन अथवा निष्प्रयोजन, पाप एव निरर्थक वचन नही बोलना चाहिये। न मर्मभेदी वचन ही बोलना चाहिये।

७६७

देव, मनुष्य तथा तिर्यंच—जब परस्पर युद्ध करते हो तब—इसकी जय हो और इस की पराजय हो—ऐसा वचन नही बोलना चाहिए। क्योकि ऐसा बोलने से एक प्रसन्न होता है और दूसरा नाराज। ऐसी दुख की स्थिति साधक को उपस्थित करना उपयुक्त नही है। ●

रात्रिभोजन त्याग

७९८

अत्थगयमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइय सव्व, मणसा वि न पत्थए ॥

७९९

सन्तिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणिय चरें ॥

८००

उदउल्ल वीयससत्तं, पाणा निव्वडिया महिं ।
दिया ताइ विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कह चरे ॥

८०१

चउव्विहे वि आहारे, राईभोयण वज्जणा ।
सन्निही-सचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥

८०२

अग्ग वणिएहि आहिय, धारति राइणिया इह ।
एव परमामहव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ॥

८०३

राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ।

८०४

सव्वाहार न भुजति, निग्गथा राइभोयणं ।

७९८ दश० ८।२८ ७९९ दश० ६।२३ ८०० दश० ६।२४
८०१ उत्त० १९।३० ८०२ सूत्र० १।२।३।३ ८०३. उत्त० ३०।२
८०४. दश० ६।२६

रात्रिभोजन त्याग

७९८

सयमी-आत्मा सूर्यास्त से लेकर पुन सूर्योदय तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे।

७९९

ससार मे वहुत से त्रस और स्थावर प्राणी अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, वे रात्रि मे दृष्टिगत नही होते, तो रात्रि मे भोजन कैसे किया जा सकता है ?

८००

कही जमीन पर कुछ पडा होता है, कही बीज विखरे होते है और कही पर सूक्ष्म कीडे-मकोडे होते हैं, दिन मे तो उन्हे टाला जा सकता है, किन्तु रात्रि मे उन्हे वचा कर भोजन कैसे किया जा सकता है ?

८०१

अन्न आदि चतुर्विध आहार का रात्रि मे सेवन नही करना चाहिए तथा दूसरे दिन के लिए भी रात्रि मे खाद्य पदार्थ का सग्रह करना निपिद्ध है। अत रात्रि भोजन का त्याग वास्तव मे वडा दुष्कर है।

८०२

जिस प्रकार दूर-देशान्तर से व्यापारी द्वारा लाये हुए वहुमूल्य रत्नो को राजा लोग ही धारण कर सकते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर द्वारा कथित रात्रि-भोजन त्याग के साथ पचमहाव्रतो को कोई विशिष्ट आत्मा ही धारण कर सकती है।

८०३

रात्रि-भोजन के त्याग से जीव अनाश्रव होता है।

८०४

निर्ग्रन्थ मुनि, रात्रि के समय किसी भी प्रकार का आहार नही करते।

●

विषयभोग-मुक्ति

८०५

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।

८०६

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा।

८०७

खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।

८०८

कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं।

८०९

सव्वं अप्पे जिए जियं।

८१०

कामेसु गिद्धा निचयं करेंति।

८११

सव्वे कामा दुहावहा।

८१२

अज्झत्थ हेउं निययस्स बंधो।

८१३

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।

---

८०५. उत्त० २५।४१ ८०६. उत्त० १४।१३ ८०७ उत्त० १४।१३
८०८ उत्त० ९।५३ ८०९ उत्त० ९।३६ ८१० आचा० १।३।२
८११ उत्त० १३।१६ ८१२ उत्त० १४।१९ ८१३. उत्त० ९।५३

विषयभोग-मुक्ति

८०५

जो भोगी है, वह कर्मों से लिप्त होता है और जो अभोगी है, भोगासक्त नही है, वह कर्मों से लिप्त नही होता ।

८०६

काम-भोग क्षण-मात्र सुख देनेवाले हैं, और बदले मे चिर-काल तक दु ख देनेवाले है ।

८०७

काम-भोग अनर्थों की खान है ।

८०८

काम-भोग की लालसा रखनेवाले प्राणी उन्हे प्राप्त किये बिना ही अतृप्त-दशा मे एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं ।

८०९

एक अपने (विकारो) को जीतने पर सबको जीत लिया जाता है ।

८१०

काम-भोगो मे आसक्त प्राणी कर्मोंका बन्धन करते है ।

८११

सभी काम-भोग अन्तत दु ख देनेवाले ही होते है ।

८१२

यथार्थ मे बन्धन के हेतु—अन्तर के विकार ही होते हैं ।

८१३

काम-भोग शल्य-रूप है, विषरूप है और विषधर सर्प के समान है ।

८१४

जहा किंपागफलाण, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाण, परिणामो न सुन्दरो ॥

८१५

समेमाणा पलेमाणा, पुणो पुणो जाइ पकप्पंति ।

८१६

सव्व विलविय, गीय, सव्व नट्ट विडम्बिय ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥

८१७

गिद्धोवमे उ नच्चाण, कामे संसारवड्ढणे ।
उरगो सुवण्णपासे व, सकमाणो तणु चरे ॥

८१८

अणोहतरा एए नो य ओह तरित्तए ।

८१९

कामाणुगिद्धिप्पभव खु दुक्ख ।
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ॥

८२०

न लिप्पई भवमज्झे वि सतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥

८२१

विरत्ता हु न लग्गति, जहा से सुक्कगोलए ।

---

८१४ उत्त० १९।१७ ८१५. आचा० ६।४।३ ८१६ उत्त० १३।१६
८१७. उत्त० १४।४७ ८१८ आचा० १।२।३ ८१९ उत्त० ३२।१९
८२०. उत्त० ३२।४७ ८२१ उत्त० २५।४२

८१४

जैसे किंपाक फलो का परिणाम सुन्दर नही होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगो का परिणाम सुन्दर नही होता ।

८१५

ससार के भोगो मे आसक्त रहनेवाले प्राणी पुन -पुन जन्म-मरण को प्राप्त करते रहते हैं।

८१६

सभी गीत विलाप हैं, सभी नाच-रग विडम्बना है, और सभी आभूषण शरीर पर बोझरूप हैं। अधिक क्या, ससार के सभी काम-भोग अन्त मे दु ख ही देनेवाले हैं।

८१७

गीध पक्षी के दृष्टान्त को जानकर विवेकी मनुष्य काम भोग को ससारवर्धन का हेतु समझे। तथा उनसे उसी प्रकार शकित होकर चलना चाहिए, जिस प्रकार गरुड के सामने सर्प शकित हो कर चलता है।

८१८

जो मनुष्य वासना के प्रवाह को नही तैर सकते हैं, वे ससार के प्रवाह को कभी नही तैर सकते ।

८१९

ससार मे देवताओ सहित सभी प्राणियो मे जो दु ख देखे जाते है वे सब कामासक्ति के कारण ही हैं।

८२०

जो आत्मा विषयो के प्रति उदास—अनासक्त है वह ससार मे रहता हुआ भी उस मे लिप्त नही होता । जैसे कमलिनी का पत्र जल मे रहते हुए भी उन से विलग रहता है ।

८२१

मिट्टी के सूखे गोले के समान जो साधक विरक्त है, वह कही भी नही चिपकता अर्थात् आसक्त नही होता ।

८२२

आतुरा परितावेति ।

८२३

लद्धे कामे न पत्थेज्जा ।

८२४

भोगेहिं य निरवेक्खा, तरति ससारकतार।

८२५

वत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे ।

८२६

सन्ना इह काममुच्छिया, मोह जन्ति नरा असवुडा ।

८२७

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।

८२८

सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पइ ताई ।

८२९

भोगा इमे सगकरा हवति ।

८३०

बुद्धो भोगे परिच्चयइ ।

८३१

काम-भोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काए ।

---

८२२. आचा० १।१।६ ८२३ सूत्र० १।९।३२ ८२४ ज्ञाता० १।९
८२५ दश० २।७ ८२६. सूत्र० १।२।१।१० ८२७ उत्त० ८।६
८२८ उत्त० ८।४ ८२९. उत्त० १३।२७ ८३०. उत्त० ९।३
८३१ उत्त० ८।१४

८२२

विपयातुर आत्मा ही दूसरे प्राणियो को सताप पहुँचाते हैं।

८२३

कामभोग प्राप्त होने पर भी उन की कामना न करे।

८२४

जो मनुष्य विषय भोगो से विरक्त (उदास) रहते हैं, वे दुस्तर ससार-वन को पार कर जाते हैं।

८२५

वमन किये हुये [त्यक्त विपयो] को फिर से पीने की इच्छा करते हो, इससे तो तुम्हारा मरना श्रेय है।

८२६

ससारासक्त तथा विषय-भोगो मे मूर्च्छित असयमी मनुष्य वार-बार मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

८२७

काम-भोगो का त्याग करना अत्यन्त कठिन है। अधीर पुरुप तो इन्हे सरलता से छोड ही नही सकते।

८२८

काम-भोगो के सव प्रकारो मे दोप देखता हुआ भी आत्म-रक्षक-साधक उन मे कभी लिप्त नही होता।

८२९

ये काम-भोग कर्मों का वन्घ करनेवाले हैं।

८३०

ज्ञानी-पुरूप ही भोग का परित्याग कर सकता है।

८३१

जो साधक काम-भोग के रस मे आसक्त हो जाते हैं वे असुरजाति निम्न श्रेणी के देवो मे उत्पन्न होते हैं।

८३२

अदक्खु कामाइ रोगव ।

८३३

चउव्विहा कामा पण्णत्ता, तजहा—
सिगारा, कलुणा, वीभच्छा, रोद्दा ।
सिगारा कामा देवाण, कलुणा कामा मणुयाण,
वीभच्छा कामा तिरियाण, रोद्दाकामा णेरइयाण ।

८३४

भोगी भोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे-
महापज्वसाणे भवइ ।

८३५

जहा कुसग्गे उदग समुद्देण सम मिणे ।
एव माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए ।।

८३६

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एसोवमा कामगुणा विवागे ।।

८३७

अप्पमत्तो कामेहि, उवरतोपावकम्मेहि,
वीरे आय - गुत्ते से खेयन्ने ।

८३८

वहु-दुक्खा हु जतवो, सत्ता कामेहि माणवा ।

८३९

भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चई ।

---

८३२ सूत्र० २।३।२ ८३३. स्था० ४।४।३५७ ८३४. भग० ७।७
८३५ उत्त० ७।२३ ८३६ उत्त० ३२।२० ८३७ आचा० ३।१।६
८३८. आचा० ६।१।६ ८३९ उत्त० २५।४१

८३२

आत्म-विद् साधको ने काम-भोगो को रोगयुक्त देखे हैं।

८३३

चार प्रकार के काम कहे है—शृ गार, करुण, वीभत्स और रौद्र। देवो के काम-शब्दादि अत्यन्त मनोज्ञ रति-रस के उत्पादक होने से शृ गार कहलाते है। मनुष्यो का शरीर शुक्र-शोणित से बना हुआ होने से उन के काम क्षणिक हैं, अत करुण कहे गये है। तिर्यंचो के काम घृणोत्पादक हैं, अत वे वीभत्स माने गये हैं और नारको के काम क्रोध के कारण होने से रौद्र गिने गये हैं।

८३४

जो व्यक्ति भोग समर्थ होते हुए भी भोगो का परित्याग करता है, वह कर्मों की महान् निर्जरा करता है तथा मोक्षरूपी महाफल को प्राप्त करता है।

८३५

मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग, देव सम्बन्धी काम-भोगो की तुलना मे वैसे ही हैं, जैसे कोई व्यक्ति कुश की नोक पर टिके हुए जल-विन्दु की समुद्र से तुलना करता है।

८३६

जैसे किंपाक फल रूप, रग और रस की दृष्टि से प्रारम्भ मे खाते समय तो अत्यन्त मधुर और मनोरम लगते हैं किन्तु वाद मे जीवन के नाशक हैं, वैसे ही काम-भोग भी प्रारम्भ मे वडे मीठे और मनोहर प्रतीत होते हैं, किन्तु विपाककाल मे अत्यन्त दु ख प्रद सिद्ध होते है।

८३७

जो काम-भोगो मे नही फँसता, पापकर्मों से पृथक रहता और अपनी आत्मा को पतन के गर्त से बचाता है, वही साधक वीर है, आत्मरक्षक है, विद्वान् तथा कुशल है।

८३८

ससारी आत्मा दु खो से घिरी रहती है, तथापि वे काम-भोगो मे आसक्त वनी रहती है।

८३९

भोगी ससार मे परिभ्रमण करता है, अभोगी ससार से मुक्त होता है।

पाप-परिणाम

८४०

थणति लुप्पति तसति कम्मी ।

८४१

पडति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।

८४२

से जाणमजाण वा, कट्टु आहम्मिय पय ।
सवरे खिप्पमप्पाण, बीय त न समायरे ।।

८४३

कड् कडेत्ति भासेज्जा, अकड नो कडेत्ति य ।

८४४

पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।

८४५

पाणाइ वायमलिय, चोरिक्क मेहुण दवियमुच्छ ।
कोह माणं माय, लोभं पिज्ज तहा दोस ।।
कलह अब्भक्खाण, पेसुन्न रइ-अरइसमाउत्त ।
परपरिवाय माय-मोस मिच्छत्तसल्ल च ।।

---

८४० सूत्र० ७।२०   ८४१ उत्त० १८।२५   ८४२. दश० ८।३१
८४३ उत्त० १।११   ८४४. सूत्र० १०।२१   ८४५ आव० ४

पाप-परिणाम

८४०

जो आत्मा पापकर्म का उपार्जन करते हैं, उन्हे रोना पडता है, दुख भोगना पडता है और भयभीत होना पडता है।

८४१

जो मनुष्य पाप करते हैं वे भयकर घोर नरक मे जाते है।

८४२

यदि विवेकी मनुष्य जान-अनजान मे कोई अधर्म-कृत्य कर बैठे, तो अपनी आत्मा को शीघ्र उसमे मोड़े और फिर दुबारा वैसा कार्य न करे।

८४३

पूछने पर किये हुए पाप कर्म को छिपाना नही चाहिए, किये हुए को किया तथा नही किये हुए को न किया हुआ कहना चाहिए।

८४४

साधक पापकर्मों से आत्मा को हटा ले।

८४५

पाप के अठारह प्रकार है—(१) प्राणातिपात-हिंसा (२) झूठ (३) चोरी (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) दोषारोपण (१४) चुगली (१५) असयम मे रति-सुख और सयम मे अरति-असुख (१६) परनिंदा (१७) कपटपूर्ण झूठ (१८) मिथ्यादर्शन शल्य।

८४६

पच्छाणुतावेण विरज्जमाणे,
करणगुण - सेढिं पडिवज्जइ ।

८४७

पावे कम्मे जे य कडे जे य कज्जई,
जे य कज्जिस्सई, सव्वे से दुक्खे ।

८४८

तयस व जहाइ से रय,
इइ सखाय मुणी न मज्जई ।

८४९

आयकदसी न करेइ पाव ।

---

८४६ उत्त० २६।६ ८४७ भग० ७।८ ८४८. सूत्र० १।२।२।१
८४९. आचा० १।३।२

८४६

किये हुए पापकर्म के पश्चात्ताप से जीव वैराग्यवत होकर क्षपक-श्रेणी प्राप्त करता है ।

८४७

जीवो द्वारा जो पाप किया गया है, किया जा रहा है तथा किया जायेगा वह सब दु ख का मूल हेतु है ।

८४८

जिस प्रकार नाग काचली को छोड देता है, उसी प्रकार सन्तपुरुष पाप रज को झाड देते हैं ।

८४९

जिसने ससार के दु खो का स्वरूप ठीक तरह से जान लिया है, वह कभी पाप कर्म नही करता है ।

अज्ञान

८५०

सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरन्ति ।

८५१

लोयसि जाण अहियाय दुक्ख ।

८५२

जहा हि अधे सह जोतिणावि,
रुवादि णो पस्सति हीणणेत्ते ।

८५३

आसुरीयं दिस वाला, गच्छति अवसा तमं ।

८५४

वितहं पप्पऽखेयन्ने,
तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ।

८५५

अप्पणो य पर नाल, कुतो अन्नाणुसासिउ ।

८५६

न कम्मुणा कम्म खवेति वाला ।

८५७

मन्दा निरय गच्छन्ति, वाला पावियाहि दिट्ठीहिं ।

८५८

मदा विसीयति, उज्जाणसि व दुव्वला ।

---

८५० आचा० १।३।१ ८५१ आचा० १।३।१ ८५२. सूत्र० १।१२।८
८५३ उत्त० ७।१० ८५४ आचा० १।२।३ ८५५ सूत्र० १।२।१७
८५६ सूत्र० १।१२।१५ ८५७ उत्त० ८।७ ८५८ सूत्र० ३।२।२०

अज्ञान

८५०

अज्ञानी सदा सोये रहते हैं, और ज्ञानी सदा जागते रहते हैं।

८५१

यह समझ लीजिए कि अज्ञान तथा मोह ही ससार मे अहित और दु ख पैदा करने वाला है।

८५२

जिस प्रकार नेत्र हीन—अन्ध व्यक्ति प्रकाश होते हुये भी वाह्य दृश्य कुछ भी नही देख पाता है, उसी प्रकार प्रज्ञाहीन मनुष्य शास्त्र ज्ञान समक्ष होते हुए भी सत्यासत्य का निर्णय नही कर सकता।

८५३

अज्ञानी जीव अन्धकारयुक्त आसुरीगति को प्राप्त होते है।

८५४

अज्ञानी मनुष्य जब सभी मिथ्या विचारो को सुन लेता है तो वह उन्ही मे उलझ-पुलझ कर रह जाता है।

८५५

अज्ञानी जीव स्वय के ऊपर भी अनुशासन नही कर सकता, दूसरो पर तो करने का सवाल ही क्या ?

८५६

अज्ञानी आत्मा अपने कर्मों के द्वारा कर्मों का विनाश नही कर सकते।

८५७

मन्दबुद्धिवाले तथा अज्ञानी पुरुष अपनी पापमयी दृष्टि के कारण ही नरक मे जाते हैं।

८५८

ऊँची भूमि पर चढते हुए, दुर्बल बैलो की भाति अज्ञानात्मा सकट काल मे विषाद को प्राप्त होते हैं।

८५९

जहा अस्साविणि णाव, जाइअधो दुरुहिया ।
इच्छई पारमागतु, अतरा य विसीयई ॥

८६०

मदा विसीयति, मच्छा विट्ठा व केयणे ।

८६१

तिविहा मूढा पण्णत्ता त जहा—
णाणमूढा, दसणमूढा, चरित्तमूढा ।

८६२

वालस्स पस्स वालत्त, अहम्म पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्म अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई ॥

८६३

धीरस्स पस्स धीरत्त, सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्म धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई ॥

८६४

अणागयमपस्सन्ता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पन्ति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥

---

८५९ सूत्र० १।२।३१ ८६० सूत्र० ३।१।१३ ८६१ स्था० ३।४।२०३
८६२ उत्त० ७।२८ ८६३ उत्त० ७।२९ ८६४ सूत्र० १।३।४।१४

८५९

अज्ञानी साधक उस जन्मान्ध व्यक्ति के समान है जो छिद्रवाली नौका पर चढकर नदी किनारे पहुँचना तो चाहता है किंतु किनारा आने के पूर्व ही बीच प्रवाह मे डूब जाता है।

८६०

जाल मे फसी हुई मछलियो की तरह अज्ञानात्मा विषाद को प्राप्त होते हैं।

८६१

मूर्ख तीन प्रकार के कहे हैं—ज्ञान से मूर्ख, (ज्ञान हीन) दर्शन से मूर्ख (श्रद्धा हीन) चारित्र से मूर्ख (आचरण हीन)।

८६२

हे मनुष्य ! तू बाल—अज्ञानी जीव की मूर्खता को देख, वह अधर्म को ग्रहण कर, धर्म को छोड, अधर्मिष्ठ बन कर नरक मे उत्पन्न होता है।

८६३

हे मनुष्य तू सब धर्मों का परिपालन करनेवाले धीर पुरुष की धीरता को देख, वह अधर्म को छोड धर्मिष्ठ बन कर देवो मे उत्पन्न होता है।

८६४

जो मनुष्य भविष्य मे होने वाले दु खो की तरफ न देख कर केवल वर्तमान-सुख को ही खोजते हैं। वे आयु और यौवन काल बीत जाने पर पश्चात्ताप करते है।

ज्ञानी-अज्ञानी

८६५

रागदोसस्सिया वाला, पाव कुव्वति ते वहु ।

८६६

नकम्मुणा कम्म खवेन्ति वाला,
अकम्मुणा कम्म खवेति धीरा ।

८६७

एएसु वाले य पकुव्वमाणे,
आवट्टई कम्मसु पावएसु ।

८६८

समिक्ख पडिए तम्हा, पास जाइपहे वहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्ति भूएसु कप्पए ॥

८६९

वित्त पसवो य नाइओ, त वाले सरणति मन्नइ ।
एते मम तेसुवि अह, नो ताण सरण न विज्जई ॥

८७०

जहा जुन्नाइ कट्ठाइ हव्ववाहो पमत्थति,
एव अत्तसमाहिए अणिहे ।

---

८६५ सूत्र० १।८।८ — ८६६. सूत्र० १।१२।१५ — ८६७ १।१०।५
८६८ उत्त० ६।२ — ८६९. सूत्र० १।२।३।१६ — ८७०. आचा० १।४।३

ज्ञानी-अज्ञानी

८६५

वाल-अज्ञानी जीव राग-द्वेष के अधीन हो कर वहुत पाप-कर्म का उपार्जन करते हैं।

८६६

अज्ञानी जीव की प्रवृत्तियाँ तो अनेक होती हैं पर वे सभी कर्मोत्पादक होने से पूर्ववद्ध कर्मों का क्षय नही कर पाती। जवकि धीर पुरुषो की प्रवृत्तियाँ अकर्मोत्पादक होने से अपने पूर्ववद्ध कर्मों को क्षीण कर सकती हैं।

८६७

पृथ्वी अप आदि जीवो के साथ दुर्व्यवहार करता हुआ वाल जीव पाप-कर्मों मे आसक्त होता है।

८६८

[अत] पण्डित पुरुप वहुत प्रकार के जाति-पथो का विचार करके अपनी आत्मा के द्वारा सत्य का अन्वेषण करें, और सभी जीवो के प्रति मैत्री का आचरण करें।

८६९

वाल जीव की ऐसी मान्यता है कि धन, पशु तथा स्वजन सम्बन्धी मेरा सरक्षण करेंगे। वे मेरे हैं तथा मैं उनका हूँ किंतु इस प्रकार उसकी रक्षा नही होती।

८७०

जिस प्रकार पुरानी व सूखी लकडियो को आग शीघ्र ही जला देती है, उसी प्रकार आत्म-निष्ठ तथा मोहरहित साधक कर्म रूपी काष्ठ को जला डालता है।

८७१

तुलियाण वालभाव, आवाल चेव पडिए।
चइऊण वालभाव, अवाल सेवई मुणी ॥

८७२

पमाय कम्ममाहसु अप्पमाय तहावर।
तब्भावादेसओ वा वि, वालं पडियमेव वा ॥

८७३

ज किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अन्तराखिप्प, सिक्ख सिक्खेज्ज पण्डिए ॥

८७४

वाले य मन्दिए मूढे, वज्झई मच्छिया व खेलम्मि।

८७५

न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई।

८७६

लुप्पन्ति वहुसो मूढा, ससारम्मि अणन्तए।

---

८७१. उत्त० ७।३० ८७२ सूत्र० १।८।३ ८७३ सूत्र० १।८।१५
८७४ उत्त० ८।५ ८७५. उत्त० ५।५ ८७६. उत्त० ६।१

८७१

पण्डित मुनि वाल-भाव और अबाल-भाव की तुलना करे, और बाल-भाव को छोडकर अवाल-भाव का सेवन करे ।

८७२

अनन्त ज्ञानी आत्माओ ने प्रमाद को कर्मोपादान का कारण बतलाया है और अप्रमाद को कर्मक्षय का । इसी कर्मोपादान और कर्मक्षय के कारण ही मनुष्य को वाल और पण्डित कहा जाता है ।

८७३

यदि पण्डित पुरुष किसी प्रकार अपनी आयु का क्षय काल जान ले, तो उससे पूर्व शीघ्र ही वह सलेखनारूप शिक्षा को अपना ले ।

८७४

अज्ञानी और मन्दमति मूढ जीव ससार मे उसी प्रकार फँस जाते हैं जैसे श्लेष्म-कफ मे मक्खी ।

८७५

अज्ञानी जन ऐसा सोचते हैं कि परलोक हमने देखा नही है किन्तु यह विद्यमान काम-भोग का आनन्द तो चक्षु-दृष्ट है, आँखो के सामने है ।

८७६

मूढ प्राणी इस अनत ससार मे वार-बार लुप्त होते रहते हैं अर्थात् जन्म मरण करते रहते हैं ।

अप्रमाद

८७७

दुमपत्तए पडुयए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीवियं,
समय गोयम ? मा पमायए ;।

८७८

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोव चिट्ठइ लम्बमाणए।
एव मणुयाण जीविय, समय गोयम ! मा पमायए ।।

८७९

परिजूरइ ते सरीरय, केसा पडुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायइ, समय गोयम ! मा पमायए ।।

८८०

तिण्णो हु सि अण्णव मह,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पार गमित्तए,
समय गोयम ! मा पमायए ।।

८८१

अल कुसलस्स पमाएण।

८८२

सएण विप्पमाएण पुढो वय पकुव्वह।

---

८७७ उत्त० १०।१ ८७८ उत्त० १०।२ ८७९ उत्त० १०।२६
८८० उत्त० १०।३४ ८८१. आचा० १।२।४ ८८२ आचा० १।२।६

अप्रमाद

८७७

रात्रियाँ वीत जाने पर वृक्ष का पका हुआ पान, जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक न एक दिन समाप्त हो जाता है। इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

८७८

कुश की नोक पर स्थित ओसविन्दु की अवधि जैसे थोडी होती है, वैसे ही मनुष्य जीवन की गति है। अत हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

८७९

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश श्वेत हो रहे है और पूर्ववर्ती वल भी क्षीण हो रहा है, अत हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

८८०

नि सन्देह तू महान् ससार-सागर को तैर गया है, अव तट के निकट पहुँच कर क्यो खडा है ? उस पार जाने के लिए जल्दी कर। हे गौतम ! तू क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर।

८८१

प्रज्ञाशील-साधक को अपनी सावना मे किञ्चित भी प्रमाद नही करना चाहिए।

८८२

मनुष्य स्वय की भूलो—प्रमाद से ससार की विचित्र दशा मे उलझ जाता है।

८८३

भारण्डपक्खी व चरप्पमत्तो ।

८८४

तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्ख ।

८८५

अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो ।

८८६

मज्ज विसय कसाया, निद्दा विगहा य पचमी भणिया ।
इअ पचविहो ऐसो होई पमाओ या अप्पमाओ ॥

८८७

अणण्णपरम नाणी, नो पमायए कयाइ वि ।

८८८

सव्वओ पमत्तस्स भय,
सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं ।

८८९

जे छेय से विप्पमाय न कुज्जा ।

८९०

धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए !

८९१

असखय जीविय मा पमायए !

८९२

विहुणाहि रय पुरे कड, समय गोयम ! मा पमायए !

८९३

उट्ठिए नो पमायए !

---

८८३ उत्त० ४।६ ८८४ उत्त० ४।८ ८८५ उत्त० ४।१०
८८६. उत्त० नि० १८० ८८७ आचा० ३।३।४ ८८८. आचा० १।३।४
८८९. सूत्र० १।१४।२ ८९०. आचा० १।२।१ ८९१ उत्त० ४।१
८९२ उत्त० १०।३ ८९३ आचा० १।५।२

८८३

भारण्ड पक्षी की भाँति साधक अप्रमत्त होकर विचरण करे।

८८४

अप्रमत्त होकर विचरण करने वाला मुनि शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

८८५

आत्मरक्षक और अप्रमत्त होकर विचरण करो।

८८६

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पाँच प्रकार के प्रमाद कहे हैं, इन से विरक्त होना ही अप्रमाद है।

८८७

सम्यग्दृष्टि आत्मा चरित्र पथ में कभी भी प्रमाद न करे।

८८८

प्रमत्त आत्मा को सभी ओर भय रहता है। जबकि अप्रमत्त को किसी भी ओर भय नही रहता है।

८८९

चतुर नर वही है जो कभी प्रमाद का सेवन न करे।

८९०

धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे।

८९१

जीवन का धागा नाजुक है, टूट जाने पर वह पुन जुड नहीं सकता। अत जरा भी प्रमाद मत करो।

८९२

पूर्व भव-सचित कर्मों की रज दूर करने के लिए हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

८९३

जो साधक एक बार अपने कर्तव्य-पथ पर उठ खडा हुआ है, उसे फिर प्रमाद का सेवन नही करना चाहिए।

तृष्णा

८९४

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीम फलोदया ।

८९५

सद्दाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अतट्ठगुरु किलिट्ठे ।

८९६

सद्दाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए वियोगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ।।

८९७

सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ।।

८९८

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।।

८९९

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो, सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।।

---

८९४. उत्त० २३।४८   ८९५. उत्त० ३२।४०   ८९६. उत्त० ३२।४१
८९७. उत्त० ३२।४२   ८९८. उत्त० ३२।४३   ८९९. उत्त० ३२।४४

तृष्णा

८९४

संसार की तृष्णा महा-भयकर फल देने वाली विप-वेल है।

८९५

मनोज्ञ शव्द की तृष्णा के वशीभूत अज्ञानी पुरुष अपने स्वार्थ के लिए अनेक प्रकार के त्रस स्थावर जीवो की हिंसा करता है। उन्हे कई प्रकार से परितप्त और पीडित करता है।

८९६

शव्द मे अनुराग और ममत्व भाव होने के कारण मनुष्य परिग्रह के उत्पादन, रक्षण और प्रबन्ध की चिंता करता है। उसका व्यय और वियोग होता है, अत इन सव मे उसे सुख कहाँ है ? और तो क्या ? उसके उपभोग काल मे भी उसे तृप्ति नही मिलती।

८९७

शव्दादि विपयो मे जो अतृप्त होता है, उसके परिग्रहण मे आसक्त, उपासक्त होता है, उसे सतोष प्राप्त नही होता, वह असतोप के कारण दु खी और लोभग्रस्त होकर दूसरो की मूल्यवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

८९८

तृष्णा से अभिभूत—चौर्य-कर्म मे प्रवृत्त और शव्दादि विपयो तथा परिग्रहण मे अतृप्त पुरुप लोभ-दोष से माया और मृपा की वृद्धि करता है। तथापि वह दु ख से मुक्त नही होता।

८९९

मृपावाद के पहले और पीछे तथा वोलते समय वह दु खी होता है, चोरी मे प्रवृत्त और शव्दादि मे अतृप्त हुई आत्मा दु ख को प्राप्त होती है। तथा उसका कोई भी सरक्षक नही होता।

९००

अणेगचित्ते खलु अय पुरिसे,
से केयण अरिहए पूरइत्तए।

९०१

कामा दुरतिक्कम्मा।

९०२

इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्कर।

९०३

कह न कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए।

९०४

विणीय तण्हो विहरे।

९०५

से हु चक्खू मणुस्साण, जे कखाए य अतए।

९०६

मेहावी अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।

---

९०० आचा० १।३।२ ९०१ आचा० १।२।५ ९०२ उत्त० १९।४४
९०३ दश० २।१ ९०४ दश० ८।६० ९०५ सूत्र० १५।१४
९०६. सूत्र० ८।१३

९००

यह पुरुष अनेक चित्त है अर्थात् अनेकानेक कामनाओ के कारण मनुष्य का मन यत्र-तत्र बिखरा हुआ रहता है। जैसे किसी व्यक्ति का छलनी मे जल भरना शक्य नही लगता, वैसे ही अपनी कामनाओ की पूर्ति करना शक्य नही है।

९०१

कामनाओ का पार पाना अत्यन्त कठिन है।

९०२

इस लोक मे जो तृष्णा रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नही है।

९०३

जो अपनी कामनाओ—इच्छाओ को रोक नही पाता, वह भला साधना कैसे कर पायेगा ?

९०४

मुमुक्षु आत्मा को तृष्णा रहित होकर विचरण करना चाहिए।

९०५

वही व्यक्ति मनुष्यो के लिए चक्षु के समान मार्गदर्शक है जिसने भोग की तृष्णा पर विजय पाली है।

९०६

बुद्धिमान पुरुष को अपना गृद्धिभाव दूर हटाना चाहिए। ●

६०७

नेहपासा भयकरा ।

६०८

असिणेह सिणेहकरेहिं ।

६०९

वोच्छिद सिणेहमप्पणो,
कुमुअ सारईय व पाणियं ।

६१०

विजहित्तु पुव्वसजोग,
न सिणेह कहचि कुव्विज्जा ।

६११

जहा रुक्ख वणे जायं, मालुया पडिवधइ ।
एव ण पडिवधति, नाइओ असमाहिणा ।

६१२

निवद्धो नाइसगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गेहे ।

६१३

एए सगा मणूसाण, पायाला व अतारिमा ।

६१४

त च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे सगा महासवा ।

६१५

अणुस्सुओ उरालेसु जायमाणो परिव्वए ।

६१६

अह ण वयमावन्न, फासा उच्चावया फुसे ।
न तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ।।

---

६०७ उत्त० २३।४३   ६०८ उत्त० ८।२   ६०९ उत्त० १०।२८
६१० उत्त० ८।२   ६११ सूत्र० १।३।२।१०   ६१२ सूत्र० १।३।२।११
६१३ सूत्र० १।३।२।१२   ६१४ सूत्र० १।३।२।१३   ६१५ सूत्र० १।९।३०
६१६. सूत्र० १।११।३७

स्नेह-सूत्र

९०७

स्नेह के बन्धन भयकर हैं।

९०८

जो तेरे प्रति स्नेह करे, उनसे भी तू नि स्नेह भाव से रह।

९०९

जिस प्रकार शरदऋतु का कुमुद जल मे लिप्त नही होता, उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन।

९१०

पूर्व सयोगो को छोड देने पर फिर किसी भी वस्तु मे स्नेह न करे।

९११

जैसे वन मे उत्पन्न वृक्ष को मालुका लता घेर लेती है, उसी प्रकार मुनि को स्वजन असमाधि उत्पन्न कर स्नेह-सूत्र मे बाँध लेते हैं।

९१२

स्नेह-पाश मे बँधे हुए मुनि की स्वजन उसी तरह चौकसी रखते हैं, जिस तरह नये पकडे हुये हाथी की।

९१३

माता, पिता, स्वजन आदि का स्नेह सम्बन्ध छोडना उसी तरह कठिन है जिस तरह अथाह समुद्र को पार करना।

९१४

ज्ञाति ससर्ग को ससार का कारण समझ कर साधु उसका परित्याग कर देवे।

९१५

उदार भोगो के प्रति अनासक्त रहता हुआ मुमुक्षु आत्मा यत्नपूर्वक सयम पथ मे रमण करे।

९१६

जिस प्रकार महागिरी हवा के झञ्झावात से डोलायमान नही होता, उसी प्रकार व्रत-निष्ठ पुरुप सम-विषम, ऊँच-नीच, अनुकूल-प्रतिकूल परिषहो के आने पर भी धर्म-पथ से विलग नही होता।

६१७

कह चरे ? भिक्खु ! वयं जयामो ?
पावाइ कम्माइ पणोल्लयामो ?
अक्खाहि णे संजय ! जक्खपूइया !
कहं सुजट्ठं कुसला वयन्ति ?

६१८

छज्जीवकाए असमारभन्ता,
मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं,
एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ।

६१९

सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणो ।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो,
महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥

६२०

के ते जोई ? के व ते जोइठाणे ?
का ते सुया ? किं व ते कारिसंगं ?
एहा य ते कयरा सन्ति भिक्खू !
कयरेण होमेण हुणासि जोइं ?

६२१

तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्म एहा संजमजोग सन्ती,
होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ।

---

६१७. उत्त० १२।४०   ६१८ उत्त० १२।४१   ६१९ उत्त० १२।४२
६२० उत्त० १२।४३   ६२१ उत्त० १२।४४

यज्ञ

६१७

हे भिक्षो ! हम किस प्रकार का यज्ञ करे, जिसके करने से पाप कर्मों का नाश हो सके। तथा हे यक्षपूजित सयत ! आप हमे बतायें, कि कुशल पुरुषो ने सुइष्ट-श्रेष्ठ यज्ञ का विधान किस प्रकार किया है ?

६१८

मन और इन्द्रियो का दमन करनेवाले छ काय के जीवो की हिंसा नही करते, असत्य और चौर्य का सेवन नही करते। परिग्रह, स्त्री, मान और माया इन सबका भली-भाँति त्याग करके विचरण करते हैं।

६१९

जो पाँच सवरो से सुसवृत्त होता है, जो असयम—जीवन जीने की इच्छा नही करता और परिषहो को सहन करते हुए, जिन्होंने शरीर के प्रति ममत्त्व बुद्धि का त्याग कर दिया है, वे ही पवित्र हैं और वे ही जीव कर्मों के जय करनेवाले श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।

६२०

हे भिक्षो ! तुम्हारी अग्नि कौनसी है ? और कौन-सा अग्नि-कुण्ड है ? तुम्हारे घी डालने की करछियाँ कौन-सी हैं ? तुम्हारे अग्नि को जलाने के कण्डे कौन-से हैं ? तुम्हारे समिधा और शान्तिपाठ कौन-सा है ? और किस हवन से तुम ज्योति को प्रसन्न करते हो ?

६२१

तप ज्योति अर्थात् अग्नि है। जीव ज्योति-स्थान है। योग (मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति) घी डालने की करछियाँ हैं। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे है। कर्म ईंधन है। सयम की प्रवृत्ति शान्ति-पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि प्रशस्त—अहिंसक होम करता हूँ।

परलोक

६२२

तेणावि ज कय कम्म, सुह वा जइ वा दुह ।
कम्मुणा तेण सजुत्तो, गच्छइ उ पर भव ॥

६२३

गार पि अ आवसे नरे,
अणुपुव्व पाणेहि सजए ।
समता सव्वत्थ सुव्वते,
देवाण गच्छे स लोगय ॥

६२४

पच्छा वि ते पयाया, खिप्प गच्छन्ति अमरभवणाइ ।
जेसिं पियो तवो सजमो य, खती य वभचेर च ॥

६२५-६२६

आसण सयणं जाण, वित्त कामे य भुजिया
दुस्साहड धण हिच्चा, वहु सचिणिया रय ॥
तओ कम्मगुरु जतु, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अयव्व आगयाएसे, मरणतम्मि सोयई ॥

६२७

अद्धाण जो महत तु, अप्पाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहा-तण्हाए पीडिओ ॥

---

६२२ उत्त० १८।१७ ६२३ सूत्र० १।२।३।१३ ६२४. दश० ४।२८
६२५ उत्त० ७।८ ६२६. उत्त० ७।९ ६२७ उत्त० १९।१८

परलोक

६२२

उस, मरनेवाले व्यक्ति ने जो भी कर्म किया है—शुभ या अशुभ उसी के साथ वह परलोक मे चला जाता है।

६२३

गृह मे निवास करता हुआ गृहस्थ भी यथाशक्ति प्राणियो के प्रति दया-भाव रखे, सर्वत्र समता धारण करे, नित्य जिन-वचन का श्रवण करे, तो वह मृत्यु के पश्चात् दिव्यगति मे उत्पन्न होता है।

६२४

जिन्हे तप, सयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रियकर है, वे शीघ्र ही देव-लोक—स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। भले ही पिछली अवस्था मे ही क्यो न प्रव्रजित हुये हो ?

६२५–६२६

जिसने विविध प्रकार के आसन, शय्या, वाहन, धन और काम-विषयो को भोगकर , अति परिश्रम से एकत्र किये धन को द्यूत आदि के द्वारा गँवाकर तथा वहुत कर्म-रज का सचय किया, केवल वर्तमान की ही दृष्टि रखनेवाला वह जीव मृत्यु के क्षणो मे उसी प्रकार शोक करता है, जिस प्रकार पाहुने के निमित्त पोपा हुआ मेमना (वकरा) पाहुने के आने पर।

६२७

जो पथिक विना पाथेय किसी लम्वे मार्ग का अनुसरण करता है वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीडित होकर अत्यन्त दुखी होता है।

९२८

एव धम्म अकाऊण, जो गच्छइ पर भवं।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहि पीडिओ ॥

९२९

अद्धाण जो महत तु, सपाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा-तण्हा-विवज्जिओ ॥

९३०

एव धम्म मि काऊण, जो गच्छइ पर भव।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥

---

९२८ उत्त० १९।१९ ९२९ उत्त० १९।२० ९३० उत्त० १९।२१

९२८

जो मनुष्य विना धर्माचरण किये परलोक जाता है वह वहाँ अनेकानेक व्याधियो (कष्टो) से पीडित होकर अत्यन्त दु खी होता है।

९२९

जो पथिक लम्बी यात्रा के पथ पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से किञ्चित् भी पीडित न होकर अत्यन्त सुखी होता है।

९३०

जो मनुष्य यहाँ भली-भाँति धर्म की आराधना करके परलोक जाता है, वह वहाँ अल्प-कर्मी तथा पीडा-रहित होकर अत्यन्त सुखी होता है।

बोध-सूत्र

६३१

सव्व सुचिण्ण सफल नराण ।

६३२

जाइमरण परिन्नाय, चरे सकमणे दढे ।

६३३

पाव कम्म नेव कुज्जा, न कारवेज्जा ।

६३४

नो निन्हवेज्ज वीरिय ।

६३५

वन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव ।

६३६

जो परिभवइ पर जण, ससारे परिवत्तइ मह ।

६३७

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे ।

६३८

इणमेव खण वियाणिया ।

६३९

जीविय चेव रूव च, विज्जुसपाय चचल ।

---

६३१ उत्त० १३।१०   ६३२ आचा० १।२।३   ६३३ आचा० १।२।६
६३४ आचा० १।५।३   ६३५. आचा० १।५।२   ६३६ सूत्र० १।२।२।१
६३७ सूत्र० १।२।२।११   ६३८ सूत्र० १।२।३।१९   ६३९. उत्त० १८।१३

बोध-सूत्र

६३१

मनुष्यो का अच्छा किया हुआ सर्वकर्म सफल होता है।

६३२

जन्म-मरण के स्वरूप का भली-भाँति परिज्ञान कर चारित्र मे सुदृढ होकर विचरे।

६३३

पाप-कर्म साधक न स्वय करे, न दूसरो से करवाये।

६३४

अपनी योग्य शक्ति को कभी भी छुपाना नही चाहिये।

६३५

वन्धन और मोक्ष वस्तुत हमारे भीतर मे ही है।

६३६

जो व्यक्ति दूसरो का तिरस्कार करता है, वह ससार-वन मे लम्बे समय तक परिभ्रमण करता रहता है।

६३७

मन मे रहे हुए विकारो के सूक्ष्म-शल्य को मिटाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

६३८

जो क्षण वर्तमान मे वर्त रहा है, वही महत्त्वपूर्ण है। अत साधक को उसे सफल वनाना चाहिए।

६३९

जीवन और रूप विजली की चमक की तरह चचल है।

६४०

किरिअं च रोयए धीरो ।

६४१

अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ।

६४२

मायाहिं पियाहि लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।

६४३

इह लोगे सुचिन्ना कम्मा
इहलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति ।
इह लोगे सुचिन्ना कम्मा
परलोगे सुहफलविवाग सजुत्ता भवति ॥

६४४

सव्व जग जइ तुब्भ, सव्व वा वि धण भवे ।
सव्व पि ते अपज्जत्त, नेव ताणाय त तव ।

६४५

वोसिरे सव्वसो काय, न मे देहे परीसहा ।

६४६

दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा ।

६४७

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, वधण परिजाणिया ।

६४८

अत्तहिय खु दुहेण लब्भई ।

---

६४०. उत्त० १८।३३ ६४१ उत्त० १८।११ ६४२. सूत्र० १।२।१।३
६४३ स्था० ४।२ ६४४. उत्त० १४।३९ ६४५ आचा० १।८।८।२१
६४६ सूत्र० १।७।२९ ६४७ सूत्र० १।१।१।१ ६४८ सूत्र० १।२।२।३०

९४०

धैर्यशाली पुरुष सदा क्रिया— कर्तव्य मे ही अभिरुचि रखते हैं।

९४१

जीवन अनित्य है, क्षणभगुर है, फिर क्यो हिंसा मे आसक्त होते हो ?

९४२

जो माता पिता, पुत्र पत्नी आदि मे मोह-भाव रखता है, उसको परलोक मे सुगति सुलभ नही है।

९४३

इस जीवन मे किये हुये सत्कर्म इस जीवन मे भी सुखदायी होते हैं और इस जीवन मे किये हुये सत्कर्म अगले जीवन मे भी सुखदायी होते हैं।

९४४

यदि यह सारा जगत और सारे जगत का धन भी तुम्हे दे दिया जाय, तव भी वह तुम्हारी रक्षा करने मे अपर्याप्त—असमर्थ है।

९४५

साधक सर्व प्रकार से शरीर का मोह त्याग कर आनेवाले परिपहो के प्रति यह विचार करे कि—"मेरे शरीर मे कोई परीपह नही है।"

९४६

कष्टो के आने पर भी मन को सयम की परिधि से वाहर नही जाने देना चाहिए।

९४७

प्रथम वन्धन को समझो और पश्चात उसे तोडो।

९४८

आत्म-हित का अवसर कठिनाई से मिलता है।

९४९

बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ।

९५०

काले कालं समायरे ।

९५१

पाव कम्म नेव कुज्जा, न कारवेज्जा ।

९५२

नो निन्हवेज्ज वीरिय ।

९५३

कलहकरो असमाहिकरे ।

९५४

अहऽसेयकरी अन्नेसि इखिणी ।

९५५

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरते ।।

९५६

पुरिसो रम ! पावकम्मुणा, पलियत मणुयाण जीविय ।

९५७

अवलेण वह गच्छन्ति, सरीरेण पभगुरेण ।

९५८

जहा अतो तहा वाहि जहा वाहि तहा अतो ।

---

९४९ दश-चू० १।१४ ९५० उत्त० १।३१ ९५१. आचा० १।२।६
९५२ आचा० १।५।३ ९५३ दशा० १ ९५४ सूत्र० १२।२।१
९५५ उत्त० ३२।३१ ९५६ सूत्र० १।२।१।१० ९५७. आचा० ६।१।१०
९५८. आचा० २।५

९४९

सद्बोध की प्राप्ति का अवसर पुन पुन मिलना सुलभ नही है।

९५०

समय पर समय का उपयोग करना चाहिए।

९५१

पाप-कर्म न स्वय को करना चाहिए और न दूसरो से करवाए।

९५२

साधक को अपनी शक्ति कभी नही छुपाना चाहिए।

९५३

कलह-झगडा करनेवाला असमाधि को उत्पन्न करनेवाला है।

९५४

दूसरो की निन्दा किसी भी दृष्टि से हितकर नही है।

९५५

असत्यभापी झूठ के पहले, पीछे तथा प्रयोग करते समय तीनो ही काल मे दु खी होता है।

९५६

हे पुरुप ! तू जीवन की क्षणभगुरता को जानकर शीघ्र ही पाप-कर्मों से मुक्त हो जा।

९५७

नि स्सार क्षणभगुर देह के पोपण के लिए मनुष्य पापकर्म करके भयकर दु ख उठाते हैं।

९५८

यह शरीर जैसा अन्दर से असार है, वैसा वाहर से भी असार है और वाहर से जैसा असार है, वैसा अन्दर से भी असार है।

विकीर्ण सुभाषित

९५९

अप्पणो णामं एगे पत्तिय करेइ, णो परस्स ।
परस्स णामं एगे पत्तिय करेइ, णो अप्पणो ।
एगे अप्पणो पत्तिय करेइ, परस्स वि ।
एगे णो अप्पणो पत्तिय करेइ, णो परस्स ।

९६०

गज्जित्ता णाम एगे णो वासित्ता ।
वासित्ता णाम एगे णो गज्जित्ता ।
एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि ।
एगे णो गज्जित्ता णो वासित्ता ।

९६१

मधुकुभे नाम एगे मधुपिहाणे, ।
मधुकुभे नामं एगे विसपिहाणे ।
विसकुभे नाम एगे मधुपिहाणे ।
विसकुभे नाम एगे विसपिहाणे ।

९६२

हिययमपावमकलुस, जीहाऽवि य मधुरभासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकभे मधुपिहाणे ॥

९६३

हिययमपावमकलुस, जीहाऽवि य कडुय भासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुभे विसपिहाणे ॥

---

९५९ स्था० ४।३ ९६०. स्था० ४।४ ९६१ स्था० ४।४
९६२ स्था० ४।४ ९६३ स्था० ४।४

९६४

जिस का हृदय कलुपित और माया युक्त है, किन्तु वाणी से मधुर-भापी है, वह मनुष्य विप के घडे पर मधु के ढक्कन के समान है।

९६५

जिस का हृदय भी पापमय है, और वाणी से भी सदा कठोर बोलता है वह व्यक्ति विप के घडे पर विप के ढक्कन के समान है।

९६६

पापात्मा स्वय के ही कर्मों से दु खी होता है।

९६७

ससार मे मनुष्य भिन्न-भिन्न विचार वाले होते हैं।

९६८

कई लोग छोटी-छोटी वातो पर क्षुब्ध हो जाते हैं।

९६९

सूर्योदय होने पर भी चक्षु के विना नही देखा जाता है। वैसे ही स्वय मे कोई कितना ही विज्ञ क्यो न हो, तथापि गुरु—मार्गदर्शक के अभाव मे तत्त्वदर्शन नही कर पाता।

९७०

साधक को ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवन-यात्रा एव सयमयात्रा के लिए उपयोगी हो सके, और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्र सना ही।

९७१

हे नरेश ! जरा मनुष्य की सुन्दरता को नष्ट कर देती है।

९७२

इस विराट विश्व मे परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नही है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो।

९६४

जं हियय कलुसमय, जीहाऽवि य मधुरभासिणी णिच्चं ।
जमि पुरिसमि विज्जति, से विसकुंभे महुपिहाणे ॥

९६५

ज हियय कलुसमय, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसमि विज्जति, से विसकुंभे विसपिहाणे ॥

९६६

सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।

९६७

पुढो छंदा इह माणवा ।

९६८

वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा ।

९६९

सूरोदए पासति चक्खुणेव ।

९७०

तहा भोत्तव्वं जहा से, जायामाता य भवति ।
न य भवति विब्भमो, न भसणा य धम्मस्स ॥

९७१

वण्ण जरा हरइ नरस्स रायं ।

९७२

नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे ।
जत्थण अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि ॥

---

९६४. स्था० ४।३ ९६५. स्था० ४।४ ९६६. स्था० ४।४
९६७ आचा० १।५।२ ९६८ आचा० १।५।४ ९६९ सूत्र० १।१४।१३
९७० प्रश्न० २ ४ ९७१. उत्त० १३।२६ ९७२ भग० १२।७

९६४

जिस का हृदय कलुषित और माया युक्त है, किन्तु वाणी से मधुर-भाषी है, वह मनुष्य विष के घडे पर मधु के ढक्कन के समान है।

९६५

जिस का हृदय भी पापमय है, और वाणी से भी सदा कठोर बोलता है वह व्यक्ति विष के घडे पर विष के ढक्कन के समान है।

९६६

पापात्मा स्वय के ही कर्मों से दु खी होता है।

९६७

ससार मे मनुष्य भिन्न-भिन्न विचार वाले होते हैं।

९६८

कई लोग छोटी-छोटी बातो पर क्षुब्ध हो जाते हैं।

९६९

सूर्योदय होने पर भी चक्षु के बिना नही देखा जाता है। वैसे ही स्वय मे कोई कितना ही विज्ञ क्यो न हो, तथापि गुरु—मार्गदर्शक के अभाव मे तत्त्वदर्शन नही कर पाता।

९७०

साधक को ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवन-यात्रा एव सयमयात्रा के लिए उपयोगी हो सके, और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्र सना ही।

९७१

हे नरेश ! जरा मनुष्य की सुन्दरता को नष्ट कर देती है।

९७२

इस विराट विश्व मे परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो।

९७३

ण एव भूत वा भव्व वा भविस्सति वा
ज जीवा अजीवा भविस्सति ।
अजीवा वा जीवा भविस्सति ॥

९७४

दीणे णाम एगे णो दीणमणे ।
दीणे णाम एगे णो दीणसकप्पे ।

९७५

जे से पुरिसे देति वि, सण्णवेइ वि से ण ववहारी ।
जे से पुरिसे नो देति,नो सण्णवेइ से ण अववहारी ॥

९७६

वओ अच्चेति जोव्वण च ।

९७७

वेयावच्चेण तित्थयर नाम गोत्त कम्म निवन्धई ।

९७८

सज्झाएणं नाणावरणिज्ज कम्म खवेई ।

९७९

जलबुव्बुयसमाणं कुसग्गजलविंदु चचलं जीविय ।

९८०

पावोगहा हि आरंभा, दुक्खफासा य अतसो ।

९८१

ण वि अत्थि माणुसाण,त सोक्ख ण वि य सव्व देवाण ।
ज सिद्धाण सोक्ख, अव्वावाह उवगयाण ।

९८२

धम्मज्जियं च ववहार, बुद्धेहायरिय सया ।
तमायरतो ववहारं, गरह नाभिगच्छई ॥

---

९७३ स्था० १० ९७४. स्था० ४।२ ९७५ राज प्रश्नी० ४।७०
९७६ आचा० १।२।१ ९७७ उत्त० २९।४३ ९७८ उत्त० २९।१८
९७९. औप० २३ ९८० सूत्र० १।८।७ ९८१ औप० १८०
९८२. उत्त० १।४२

९७३

न कभी ऐसा हुआ है, न होता है, और न कभी होगा ही कि जो चेतन है वे कभी अचेतन-जड हो जायें और जो अचेतन-जड हैं वे चेतन हो जायें।

९७४

कुछ मनुष्य शरीर तथा धन आदि मे दीन-गरीब होते हैं किन्तु उनका मन और सकल्प बडा ही उदार होता है।

९७५

जो व्यापारी ग्राहक को अभीष्ट वस्तु देता है और प्रीति-वचन से सन्तुष्ट भी करता है वह व्यवहारी है। जो न देता है और न प्रीति-वचन से ही सन्तुष्ट करता है वह अव्यवहारी है।

९७६

उम्र और यौवन प्रतिपल व्यतीत हो रहा है।

९७७

वैयावृत्त्य-सेवा से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन करता है।

९७८

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरण कर्म का क्षय करता है।

९७९

जीवन जल के बुलबुले के समान तथा कुशा के अग्रभाग पर स्थित जलविन्दु के समान चचल है।

९८०

पापकारी प्रवृत्ति अन्तत दु ख ही देती है।

९८१

ससार के उन सभी मनुष्यो को और देवताओ की भी वह सुख प्राप्त नही है, जो सुख अव्यावाध स्थिति वाले सिद्धात्माओ को है।

९८२

जो व्यवहार धर्म सम्मत है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करनेवाला मनुष्य कही भी निन्दा का पात्र नही होता।

९८३

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मति सुवहूजिया।
न मे एय तु निस्सेस, परलोगे भविस्सई ॥

९८४

वेराइ कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती।

९८५

उदगस्सफासेण सिया य सिद्धी,
सिज्झिसु पाणा वहवे दगसि।

९८६

चइज्ज देह न हु धम्म सासण।

९८७

एव तक्काइ साहिता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्ख ते नाइतुट्टति, सउणी पजर जहा ॥

९८८

गिरिं नहेहिं खणह, अय दन्तेहिं खायह।
जायतेयं पाएहिं हणह, जे भिक्खु अवमन्नह ॥

९८९

ममत्तवधं च महब्भयावह।

९९०

ममाइ लुप्पइ वाले अन्नमन्नेहिं मुच्छिए।

९९१

निरट्ठिया नग्गरूई उ तस्स,
जे उत्तमट्ठ विवज्जासमेई।

---

९८३ उत्त० २२।१९ ९८४. सूत्र० १।८।७ ९८५ सूत्र० १।७।१४
९८६. दश० चू० १।१७ ९८७ सूत्र० १।१।२।२२ ९८८ उत्त० १२।२६
९८९ उत्त० १९।९८ ९९०. सूत्र० १।१।४ ९९१. उत्त० २०।४९

९८३

यदि मेरे निमित्त से वहुत से जीवो की घात होने वाली है तो यह परलोक मे मेरे लिए जरा भी श्रेयस्कर नही है ।

९८४

वैरभाव रखने वाला व्यक्ति सदा वैर ही करता रहता है । वह एक के वाद एक क्रमश वैर को वढाने मे ही मग्न रहता है ।

९८५

यदि जल स्पर्श अर्थात् जल स्नान से ही सिद्धि प्राप्त होती हो तो जल मे रहने वाले अनेकानेक प्राणी कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते ।

९८६

देह को भले ही त्याग दे किन्तु अपने धर्म-शासन को न त्यागे ।

९८७

जो व्यक्ति धर्म तथा अधर्म से सर्वथा अनभिज्ञ है,, केवल कल्पित तर्कों के आधार पर ही अपने विचारो का प्रतिपादन करते हैं । वे वस्तुत अपने कर्म वन्धन को तोड नही सकते । जैसे कि पिंजरे मे रहा हुआ पक्षी पिंजरे को तोडने मे असमर्थ होता है ।

९८८

मुनि का अपमान—तिरस्कार करना वैसा ही कष्टप्रद है जैसा कि नखो से पर्वत को खोदना, दांतो से लोहे को चवाना और पैरो से अग्नि को रौंदना ।

९८९

ममत्त्व का वन्धन महाभय को उत्पन्न करने वाला है ।

९९०

धन-धान्यादि वस्तुओ मे आसक्त प्राणी ममत्त्वभाव से ही दु खी होता है ।

९९१

उसका नग्न भाव व्यर्थ है जो उत्तमार्थ मे विपरीत वुद्धि रखता है, दुष्प्रवृत्ति को सत्प्रवृत्ति मानता है ।

९९२

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाण ।

९९३

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाता भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥

९९४

तिहिं ठाणेहिं देवे परितप्पेज्जा । त जहा-
अहो ण मए···णो वहुसुए अहीए·· ····
णो दीहे सामन्नपरियाए अणुपालिए···
णो विसुद्ध-चरित्ते फासिए······· ।

९९५

चउव्विहा वुद्धि पण्णत्ता, त जहा—
उप्पइया, विणइया, कम्मिया, परिणामिया ।

९९६

आणाए धम्म ।

९९७

जीविय दुप्पडिवूहग ।

९९८

नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।

९९९

दुल्लहा तु मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोग्गइं ॥

१०००

रागस्स दोसस्स य संखएण
एगन्तसोक्ख समुवेइ मोक्ख ।

१००१

सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था ।

---

९९२. सूत्र० १।६।२३ ९९३. उत्त० १८।११ ९९४. स्था० ३।३।१७८
९९५ स्था० ४।४।३६४ ९९६ आचा० ६।२।५ ९९७ आचा० २।५
९९८ सूत्र० १।२।१।२ ९९९. दश० ५।१।१०० १००० उत्त० ३२।२
१००१. स्था० ६।१

९९२

सभी दानो मे अभयदान सर्वश्रेष्ठ है ।

९९३

अनगार बोले—हे राजन् ! मेरी तरफ से तुझे अभय है और तुम भी अभयदाता बनो । इस अनित्य जीव लोक मे तू हिंसा मे आसक्त क्यो बन रहा है ?

९९४

देवता तीन कारणो से पश्चात्ताप करते हैं—अहो ! मैंने विशेष श्रुत ज्ञान नही पढा, अधिक सयम नही पाला, एव विशुद्धचारित्र का स्पर्श नही किया ।

९९५

चार प्रकार की बुद्धि कही है—औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी, पारिणामिकी ।

९९६

जिनेश्वर देव की आज्ञा के पालन मे ही धर्म है ।

९९७

जीवन का एक क्षण भी बढ नही सकता ।

९९८

मरने के बाद जीव को सद्गति सुलभ नही है ।

९९९

इस लोक मे नि स्वार्थ भाव से देनेवाले दाता और नि स्वार्थ भाव से लेने वाले सन्त—दोनो ही अति दुर्लभ है । अत दोनो ही सद्गति को प्राप्त होते हैं ।

१०००

राग-द्वेष के सम्पूर्ण क्षय से यह जीव एकान्त सुखरूप—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

१००१

प्रभु ने सर्वत्र निष्कामता को उत्तम बताया है ।

परिशिष्ट

मुनिश्री जी के साहित्य पर विद्वानों के अभिप्राय

आधुनिक विज्ञान और अहिंसा

—लेखक : गणेशमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

—भूमिका : विद्वद्वर्य मुनि कातिसागर जी

—प्रकाशक आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

—मूल्य-तीन रुपये पचास पैसे

विज्ञान और अहिंसा दोनो ही वडे जटिल विषय हैं, फिर भी इन्हे जिस सरल और आकर्षक रूप मे उपस्थित करने का विद्वान लेखक ने प्रयास किया है, वह श्लाघनीय है .कम से कम शब्दो मे अधिक से अधिक जानकारी देने का उपक्रम, पुस्तक की अपनी विशेपता है, तभी तो लेखक ने 'प्राकृतिक और आध्यात्मिक' से प्रारम्भ कर 'विश्वशान्ति और अहिंसा', सयुक्त राष्ट्रसघ' तथा 'अहिंसा की सार्वभौम शक्ति' आदि अनेक विषयो की चर्चा की है . . प्रस्तुत पुस्तक अहिंसा सम्वन्धी विचारो की निर्माण दिशा मे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है, भापा प्रवाहशील है, सवल है, छपाई, सफाई, गेटअप आकर्पक है ।

—उपाध्याय अमरमुनि

आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' मे श्री गणेशमुनि शास्त्री ने वर्तमान जीवन की विभीषिकाओ पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए अपने अनुभवो द्वारा विज्ञान और आध्यात्मिक सस्कृति का समन्वयात्मक अध्ययन सरलतापूर्वक प्रस्तुत कर रुचिशील पाठको का ज्ञान सवर्धन किया है, विज्ञान जैसे वहिर्जगत् से सवद्ध विषय से लेकर धर्म, अहिसा और दर्शन जैसे आध्यात्मिक जीवन-प्रेरक तत्वो से सम्वन्ध स्थापित कर धर्म और समाज की जो सेवा की है, वह स्तुत्य है ।

—मुनि कातिसागर

आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' एक आदर्श कृति है । युवक क्रान्तदर्शी सन्त श्री गणेशमुनि शास्त्री का प्रस्तुत उपक्रम आधुनिक युग की साहित्य सर्जना मे वेजोड है ।

—'श्रमण' वाराणसी

विज्ञान और वैज्ञानिक प्रणालियाँ मानवता द्वारा अहिंसा का मार्ग सरलता से अपनाने मे किस प्रकार सहायक हो सकती है, इस विषय मे श्री गणेश मुनिजी के जो विचार हैं, वे जनता के सही मार्गदर्शन मे उपयोगी सिद्ध होंगे ।

—डा दौलतसिंह कोठारी

अध्यक्ष : विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली

'आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' के लेखक मुनिराज को न केवल विज्ञान मे ही रुचि है, अपितु धर्मशास्त्रो के साथ-साथ वैज्ञानिक साहित्य का भी सुन्दर अध्ययन है । प्रस्तुत कृति भावी अहिंसा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो के पाठ्यक्रम मे उपयोगी सिद्ध होगी ।

—डा डी बी परिहार

गणेश मुनि शास्त्री की 'आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' पुस्तक देखी, पढी—आद्य से इति तक वस्तुत यह मुनिश्री की एक सुन्दर एव मौलिक कृति है । प्रसन्नता और वधाई ।

— सुरेश मुनि, शास्त्री

पुस्तक की छपाई, गेटअप आदि काफी आकर्षक वन पडे हैं, पुस्तक का केवल जैन जगत मे ही नही, वरन् जैनेतर जगत् मे भी स्वागत होगा । हमारे राजनीतिज्ञो के लिए यह पुस्तक पथ-प्रदर्शक का कार्य करेगी । लेखक और प्रकाशक दोनो ही वधाई के पात्र है ।

—'ललकार'

१६ अगस्त, १९६१ जोधपुर

यदि प्रस्तुत पुस्तक को प्रयत्न करके किसी पाठ्यक्रम मे निश्चित करा दिया जाय, तो जनता का अधिक लाभ होगा, पुस्तक सर्वरूपेण पठनीय है ।

—जिनवाणी'

जयपुर (राजस्थान)

साथ अहिंसा के अगर,
हो पढना विज्ञान ।
पाठक ! पढिये प्यार से,
यह पुस्तक गुण-खान ।
सरल सरस फिर सारयुत,
कृति ऐसी नहि अन्य ।
मुनि 'गणेश' शास्त्री-गुणी,
जी को शतश धन्य !

—चन्दन मुनि [पजाबी]

नोट

प्रस्तुत पुस्तक की सुन्दर समीक्षा दैनिक समाचार पत्रो के अतिरिक्त 'रेडियो स्टेशन' दिल्ली से भी समीचीन समीक्षा हो चुकी है ।

अहिंसा की बोलती मीनारें

—लेखक : गणेश मुनि, शास्त्री साहित्यरत्न

—भूमिका : यशपाल जैन, दिल्ली

—प्रकाशक सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२

—मूल्य : चार रुपये,

आज सब ओर प्रेम, करुणा और बन्धुता के स्थान पर आशका, भय और अविश्वास का बोलबाला है। ये सब शान्ति के लिए खतरे हैं, जिनसे त्राण पाने का यदि कोई अमोघ अस्त्र है, तो वह अहिंसा ही है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ जीवन है और जहाँ अहिंसा का अभाव है, वहाँ जीवन का अभाव है। इस पुस्तक मे अहिंसा की इसी विराट् और व्यापक शक्ति का ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन किया गया है। पुस्तक सात खण्डो मे विभक्त है और प्रत्येक खण्ड को 'बोलती मीनार' की सज्ञा दी गई। प्रथम खण्ड मे अहिंसा के आदर्श को समझाते हुए, विराट् दृष्टि और विभिन्न मतो मे उसका निरुपण किया गया है दूसरे अध्याय मे सामाजिक हिंसा के विचित्र रूप शोषण, दहेज आदि की चर्चा करते हुए बताया गया है कि मानव जाति एक है. तीसरे खण्ड मे अपरिग्रहवाद की विस्तार से चर्चा की है चौथे और पाँचवे अध्याय मे अहिंसा के बुनियादी सिद्धान्त अनेकान्तवाद और शाकाहार की चर्चा की गई है। छठे खण्ड मे रेडियो सक्रियता आणविक शक्ति, अणु-परीक्षण आदि का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि विज्ञान पर अहिंसा की विजय किस प्रकार होती जा रही है और उसका समन्वय कैसे हो सकता है। अन्तिम सातवें खण्ड मे अहिंसा और विश्व शान्ति जैसे ज्वलत प्रश्न पर विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत विस्तार से चर्चा करते हुए इस दिशा मे भारत के योगदान की चर्चा की गई है।

पुस्तक में अहिंसा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष पर काफी सुपाठ्य सामग्री दी गई है। भाषा सरल, सुबोध और शैली इतनी रोचक है कि सीमित ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति भी इसे आसानी से समझ सकते हैं। गेटअप और छपाई की दृष्टि से भी पुस्तक अच्छी और विषय वस्तु के कारण तो सग्रहणीय है ही।

—दैनिक हिन्दुस्तान

४ जनवरी १९७०, दिल्ली

प्रस्तुत पुस्तक मे विद्वान लेखक ने अहिंसा की व्यावहारिक पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखते हुए, उनके विभिन्न अगो का विशद विवेचन किया है। इसे पढकर अहिंसा की तेजस्वी शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पुस्तक सात खण्डो मे विभक्त है। पहले खण्ड मे उन्होने अहिंसा के आदर्श को समझाया है। दूसरे मे मानव जाति एक है, इसको स्पष्ट किया है। तीसरे मे अहिंसा की साधना का ढग बताया गया है। इसी खण्ड मे अपरिग्रहवाद की विस्तार से चर्चा है। बाद के चार अध्यायो मे सरल सुस्पष्ट भाषा मे अहिंसा के बुनियादी सिद्धान्तो का विवेचन प्रस्तुत है। अहिंसा और विज्ञान के समन्वय पर भी बल दिया गया है। अन्त मे अहिंसा एव विश्व शान्ति के ज्वलन्त प्रश्न पर विचार किया गया है।

पुस्तक कई दृष्टियो से पठनीय, चिन्तनीय, एव सग्रहणीय है। आशा है कि साहित्यिक जगत मे यह पूर्ण सम्मानित होगी।

—नवभारत टाइम्स, १४ दिसम्बर १६६६, बम्बई

अहिंसा की व्यावहारिक पृष्ठभूमि को स्पर्श करते हुए उसके विभिन्न अगो का विशद विवेचन श्री गणेश मुनिजी शास्त्री ने प्रस्तुत पुस्तक मे किया है। अहिंसा के सम्बन्ध मे लेखक निष्ठावान है और साथ ही व्यावहारिक बुद्धि से युक्त भी। अध्ययन एव अनुभव के आधार पर की गई उसकी विवेचना अहिंसा मे निष्ठा रखने वाले प्रत्येक पाठक के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा दृढतम विश्वास है।

—उपाध्याय अमरमुनि

अपने बहुत-से लेखो तथा भाषणो मे मैंने इस बात पर जोर दिया है कि हमे सरल, सुबोध भाषा मे कुछ ऐसी पुस्तकें तैयार करनी चाहिए, जो सामान्य बुद्धि और ज्ञान रखने वाले व्यक्तियो की भी समझ मे आ जाय और वे इन्हें पढकर जान सकें कि अहिंसा की शक्ति कितनी तेजस्वी है और उन पर आचरण करके किस प्रकार राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय जीवन जगत मे स्थायी शान्ति और सुख स्थापित किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक को देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। इसके लेखक जैन मुनि हैं और इन्होंने अहिंसा तथा सम्बन्धित सभी विषयो का सूक्ष्म अध्ययन एव चिन्तन किया है।

—यशपाल जैन, देहली

श्री गणेश मुनिजी शास्त्री की अहिसा की बोलती मीनारें अहिंसा का आधुनिक शास्त्र है। इसे अहिंसा की गीता कहे, तो कोई अतिशयोक्ति नही है।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

'अहिंसा की बोलती मीनारें' के द्वारा कृष्ण के प्रेम को, महावीर की अहिंसा को, गाँधीजी की सत्याग्रहवादी भाषा को लेखक ने नवयुग की चेतना के समक्ष बड़ी सजधज के साथ रखा है।

—विजय मुनि शास्त्री

पुस्तक मे सर्वत्र लेखक की सूझ-बूझ और चिन्तन पूर्ण अनुभूतियो का दिग्दर्शन होता है। ऐसी उपयोगी पुस्तक प्रकाशन के लिए लेखक एव प्रकाशक को बधाइयाँ।

—अजित शुकदेव

अहिंसा के विभिन्न पहलुओ को लेकर प्राञ्जल शैली मे लिखी गई यह कृति सर्वोपयोगी है।

—मुनि नेमीचन्द्र

आज के भयाक्रान्त विश्व को निर्भयता की ओर ले जाने मे यह पुस्तक पूर्णसहायक बनेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

—प्रर्वतक मुनि मिश्रीमल

ऐसा श्रम साध्य तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यदि किसी उच्चस्तरीय परीक्षा के पाठ्यक्रम मे स्वीकृत हो जाय, तो समाज का अधिक हित हो सकता है।

—प्रवर्तक विनयऋषि

'अहिंसा की बोलती मीनारें' मे लेखक ने अहिंसा का शास्त्रीय चिंतन प्रस्तुत करते हुए उसके व्यावहारिक, आध्यात्मिक और विविध मतो की दृष्टि से सामाजिक मूल्यो पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है। भाव-भाषा दोनो ही दृष्टियो से पुस्तक सुन्दर से सुन्दरतर है।

—आचार्य मुनि हस्तिमल

वर्तमान विचार द्वन्द्व की काली निशा मे मुनि श्री का प्रस्तुत ग्रन्थ 'अहिंसा की बोलती मीनारें' प्रकाश स्तभ बनकर विश्व को सही मजिल की दिशा सुझायेगा, ऐसा विश्वास है।

—मालवकेशरी मुनि सौभाग्यमल

पुस्तक क्या है ? वर्तमान देश, समाज व राष्ट्र की विभिन्न समस्याओ का उचित समाधान ! राकेटवादी युग का प्रकाश स्तम्भ ! प्रत्येक मीनार का विषय बडा ही रोचक, दिलचस्प एव ज्ञानवर्धक है।

—पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल

आज के युग को अहिंसा का बोध देने वाला यह एक सुसस्कृत सयोजन है।

—मधुकर मुनि

छपाई, सफाई और सामग्री की दृष्टि से यह प्रकाशन निःसंदेह अनुपम व उपयोगी है।

—सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

पुस्तक क्या है ? दुर्लभ मोती,
हीरे लालो का इक कोष।
हर इक शब्द अहिंसा माँ की,
महिमा का करता उद्घोष।
पढ-सुन जिसे हजारो लाखो,
पार करेंगे भवसागर।
गुणी 'गणेश' मुनीश्वरजी का,
ग्रन्थरत्न यह रहे अमर।

—चन्दन मुनि (पंजाबी)

विचार रेखा

—सम्पादक : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

—प्रेरक : श्री जिनेन्द्र मुनिजी

—प्रकाशक अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर

—मूल्य . एक रुपया पचास पैसे

प्रस्तुत पुस्तक छ अध्यायो मे विभक्त वह उद्यान है, जिसमे अहिंसा, अस्तेय, सतोष, सयम, प्रेम, हर्ष, सुख, दु ख, क्षमा आदि विविध विचारो के सुमन खिले हैं, आशा है, जीवन मे इनकी सुरभि मिलती रहेगी। पुस्तक संग्रह और मनन के लायक है। मुनि श्री की इस सुन्दर कृति का सर्वत्र स्वागत हो यही हमारी मगल कामना है।

—श्रमण, वाराणसी

'विचार रेखा' महापुरुषो की दिव्यवाणी एव गम्भीर विचारको के विचारो का श्रेष्ठ सग्रह है, मानव जीवन के लिए प्रकाश स्तभ है।

—विजय मुनि शास्त्री

हाथ मे उठा जो देखा विचित्र 'विचार रेखा',
सबसे निराला लेखा, कविता न गीत है।
अनमोल हीरे पर, ढग से दिये हैं धर,
जौहरी का जैसा घर, पावन-पुनीत है।

ज्ञानी-ध्यानी महागुणी, पडित 'गणेश मुनि',
हर बात ऐसी चुनी, जीवन की जीत है।
ज्ञानियो के, गुणियो के, ऋषियो के, मुनियो के,
विविध विचारो का ही यह नवनीत है।

—चन्दन मुनि [पजाबी]

☙ मेरे स्नेही साथी गणेशमुनि शास्त्री द्वारा संग्रहीत 'विचार रेखा' एक सुन्दर सकलन है, साधना पथ का ज्योतिर्मय दीप-स्तम्भ है।

—मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

☙ रूप-रग, साज-सज्जा तथा सामग्री की दृष्टि से 'विचार रेखा' एक उत्तम कृति है, ऐसी उत्तम कृति का साहित्य जगत मे स्वागत होना ही चाहिये।

—डा० नृसिंहराज पुरोहित

इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन

—लेखक गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

—सपादक . श्रीचन्द सुराना 'सरस'

—भूमिका डा० जगदीशचन्द्र जैन

—प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

—मूल्य : चार रुपये,

☙ प्रस्तुत प्रबन्ध मे गणधर इन्द्रभूति गौतम के विराट् व्यक्तित्व की यथार्थ तसवीर खीची गई है। आज तक की साहित्यिक अपूर्णता को यह कृति पूर्ण कर रही है।

इस प्रबन्ध के लेखक हैं—श्रद्धेय पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनि म० के शिष्यरत्न श्री गणेश मुनि जी शास्त्री, श्री गणेश मुनि जी जैन समाज के एक अनेक पहेलु वाले जगमगाते जवाहिर हैं। वे कवि भी हैं और कलाकार भी हैं। गायक भी हैं और साधक भी हैं। और वे क्या नहीं हैं, यह एक प्रश्न है?

आप इस प्रबन्ध के लिए अपनी साधु समाज मे "डाक्टरेट" के प्रथम विजेता बने, यही मनीषा।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

☙ श्री गणेश मुनि जी शास्त्री की 'इन्द्रभूति गौतम एक अनुशीलन' पुस्तक पढी। ग्रन्थ बहुत अध्ययनपूर्ण एव सुन्दर शैली मे लिखा गया है.... यदि वे

सुधर्मास्वामी पर भी इसी तरह का एक शोध प्रवन्ध तैयार करे तो समाज की वडी सेवा होगी ।

—साहित्यवारिधि अगरचन्द नाहटा

विद्वान लेखक को इस 'थीसिस' पर 'डाक्टरेट' मिलनी चाहिए और उन्हे विशेष पद से विभूषित किया जाना चाहिए ।

इस अनुपम कृति के उपलक्ष मे मैं ज्ञानयोगी श्री गणेश मुनि जी का तथा सम्पादक वन्धु का और उनके भाग्यशाली पाठको का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ ।

—नारायण प्रसाद जैन, वम्वई

प्रस्तुत पुस्तक मे विद्वान लेखक एव सम्पादक ने 'इन्द्रभूति' के उस महा-महिम शव्दातीत रूप को शव्दगम्य वनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। पुस्तक का सरसरी तौर पर अवलोकन कर जाने पर मुझे लगा है—गौतम के व्यक्तित्व की गहराई को श्रद्धा एव चिन्तन के साथ उभारने का यह प्रयत्न वास्तव मे ही प्रशमनीय है तथा एक वहुत वडे अभाव की सपूर्ति भी ।

ऐसे अनुशीलनात्मक विशिष्ट ग्रन्थो से पाठको की ज्ञानवृद्धि के साथ तत्त्वजिज्ञासा की परितृप्ति होगी—ऐसा विश्वास है ।

—उपाध्याय अमर मुनि

प्रस्तुत समीक्षा कृति 'इन्द्रभूति गौतम एक अनुशीलन' श्री गणेश मुनि शास्त्री द्वारा लिखी गई है, जिसमे गौतम सम्वन्धी विभिन्न चर्चाएँ हुई है । विद्वान लेखक ने नाति दीर्घ पुस्तक में ही इन्द्रभूति गौतम के सम्वन्ध मे गहराई से विचार किया है और उनके विद्वत्तापूर्ण असाधारण व्यक्तित्व को प्रथम वार प्रकाश मे लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। वस्तुत लेखक का यह शोधपूर्ण प्रयास जैन चिन्तन के क्षेत्र मे महार्घ माना जायेगा · पुस्तक की भाषा साफ-सुथरी, प्रवाहपूर्ण आकर्षक है, लेखन शैली पिच्छिन्न और मनोज्ञ—संक्षेप मे, पुस्तक शोध-पूर्ण, नये चिन्तन को वल देने वाली और ऐतिहासिक संदर्भ को उत्साहित करने वाली है ।

—'श्रमण' वाराणसी

उदीयमान तेजस्वी लेखक श्री गणेश मुनिजी शास्त्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'इन्द्रभूति गौतम' की जीवनी अत्यन्त रस के साथ प्रस्तुत की है, जिसके लिए वे अभिनन्दन के पात्र हैं ।

—दुर्लभजी खेताणी घाटकोपर, वम्वई

'इन्द्रभूति गौतम एक अनुशीलन' को पढने से ज्ञात हुआ कि यह एक

थीसीस (महानिवन्ध) है, इस प्रकार की पुस्तक लिखने वालो को विश्व-विद्यालय की ओर से पी० एच-डी० की उपाधि से विभूषित किया जाता है, प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक श्री गणेश मुनि जी शास्त्री भी पी० एच-डी० की उपाधि के योग्य अधिकारी है।

— विनय ऋषि
अहमदनगर (महाराष्ट्र)
१५-२-१९७१

गौतम गणधर शिष्य थे, महावीर के खास,
अब तक उनका न लखा, हिन्दी मे इतिहास।
ज्ञानी गुणी 'गणेशजी', शास्त्री सुलझे सन्त,
इन्द्रभूति-गौतम' लिखा, अद्‌भुत अनुपम ग्रन्थ।
गुरुवर 'पुष्कर' हैं जिन्हे मिले महा गुण खान।
उनकी हो न क्यो कहो, कृतियाँ आलीशान।
जैसा लेखन उच्च है, है सम्पादन उच्च,
भाव भरा मुख पृष्ठ औ, सर्व प्रकाशन उच्च।
गहन मनन अध्ययन औ, चिन्तन देख विशाल,
है अभिनन्दन कर रहा, गद् गद् 'चन्दनलाल'।

—चन्दन मुनि

वाणी-वीणा

—कवयिता : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
—सम्पादक : श्रीचन्द सुराना 'सरस'
—भूमिका : डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, आगरा
—प्रकाशक अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर
—मूल्य दो रुपया पचास पैसे

'वाणी-वीणा' जीवन की सात्विक प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति का काव्यात्मक स्वरूप है, आज के युग वैषम्य और कुण्ठाओ मे पल रहे समाज के लिए इस प्रकार का सगीतात्मक प्रेषण प्रेरणाप्रद हो सकता है, समभाव, मैत्रीदिवस, प्रेममत्र, धार्मिकता, अहिंसा आदि जैनधर्म से समस्त उदात्त प्रवृत्तियो पर सुन्दर काव्यात्मक पक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं—जो लेखक के चिन्तन, मनन व अनुभूति की सात्विकता का पोषण करती है, कवि की इस मानवतावादी दृष्टि मे ही वीणा का वैशिष्ट्य निहित है।

—नवभारत टाइम्स, मार्च १९७० बम्बई

'वाणी-वीणा' को पढकर हृदय आनन्द की तरगो मे डूबने लगता है और लगता है कि हम गगा की पावन धारा मे एक बजरे के ऊपर बैठे हो, आज के युग मे ऐसी पुस्तको की पहले से अधिक आवश्यकता है।

—विश्वम्भर 'अरुण'

वाणी वीणा पढ मन मेरा, आनन्द से भर आया,
हर पद के गुञ्जन मे देखी, पन्त निराला की छाया।
स्वागत है कविराज तुम्हारा काव्य क्षेत्र मे तुम चमके,
नीलगगन मे दिनकर के सम, दिन-दिन जगती पर दमके।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

'वाणी वीणा' किसी सम्प्रदाय विशेष का स्वर नही, बल्कि सच्ची निष्ठा के साथ मानवीय कर्तव्य कर्मो का स्वर सधान है, जीवन जगत के श्रेयस की पकड है।

—डॉ० पारसनाथ द्विवेदी

'वाणी वीणा' मुक्तक रत्नो से सुसज्जित ,सुन्दर हार सी एक मौलिक कृति है, जो साहित्य मूर्ति के कण्ठाभरण सी प्रतीत होती।

—मुनि 'कुमुद'

वाणी-वीणा' मे कविवर श्री गणेश मुनि शास्त्री ने जीवनोपयोगी-मुक्तक काव्यो की भव्य रचना की है। सरस्वती के भण्डार मे यह पुस्तक अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है, कवि की कल्पना मधुर है, भाषा प्राजल है और शैली प्रभावमयी है, आशा है कि प्रत्येक अध्येता 'वाणी-वीणा' से प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीवन को प्रशस्त बनाने का यत्न करेगा।

—विजय मुनि शास्त्री

'वाणी-वीणा' का हर मुक्तक,
मुक्ति दिखाने वाला है।
दर्द भरी इस दुनिया को—
सुखधाम बनाने वाला है।
भूले भटके मानवगण को,
दानवता से दूर हटा।
मानवता का मधुर-मधुर शुभ—
पाठ पढाने वाला है।
क्यो न कहो, बधाईयां दें हम,
गुणी 'गणेश' मुनीश्वर को।

बन्द जिन्होने कर दिखलाया,
गागर मे ही सागर को।
दीक्षित-शिक्षित कर, पर जिनने
इनको योग्य बनाया है।
असल बधाईयाँ देते हैं हम,
पूज्य मुनीश्वर पुष्कर को।

—चन्दन मुनि [पजाबी]

महक उठा कवि सम्मेलन

—कवयिता गणेश मुनि शास्त्री-साहित्यरत्न
—प्रकाशक अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर
— मूल्य : एक रुपया पचास पैसे

'महक उठा कवि सम्मेलन' एक सौ एक मुक्तको की भीनी सुरभि से महक रहा है, कवि ने अपने इन तमाम मुक्तको मे कमाल की सूझ भरदी है। व्यगोक्ति के मर्म को छूनेवाली व्यजना, लाक्षणिकता की विपुल-बहुल शृ खला कल्पना की उर्वर भूमि पर युगबोध का सम्यक् समाहार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो का चमत्कार एव भावो को जन-मन तक पहुँचाने वाली भाषा का सरल सरस प्रवाह पद-पद पर छलकता नजर आता है।

मुक्तक काव्य परम्परा मे प्रस्तुत पुस्तक सदा सम्मान की दृष्टि से याद की जायगी।

—श्री अमर भारती

'महक उठा कवि-सम्मेलन' आधुनिक युग के समर्थ चितक कविरत्न श्री गणेश मुनिजी शास्त्री की एक मौलिक कृति है। इसमे कुछ तुक्तक-मुक्तक ऐसे हैं, जिन्हे देखते ही जिह्वा झूम-झूम कर गुनगुनाने लगती है। काव्य-जगत मे मुनिश्री की प्रस्तुत कृति एक नयी अभिव्यञ्जना सिद्ध होगी।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

'भाव भाषा और शैली तीनो दृष्टियो से पुस्तक सुन्दर एव सग्रहणीय है। इसमे कविवर श्री गणेश मुनि शास्त्री के विचार और अनुभूति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत हुआ है।

—विजय मुनि, शास्त्री

'महक उठा कवि सम्मेलन' जब,
पुस्तक जरा उठा देखी।
फुलझडियाँ देखी मुक्तक की तो,
सब की अजब अदा देखी।
गुणी 'गणेश' मुनीश्वर जी की,
लखी लेखनी चकित हुआ।
ऐसी सुलभी अन्य कही पर,
कम ही काव्य-कला देखी। —चन्दन मुनि [पजाबी]

'महक उठा कवि सम्मेलन' के मुक्तक आकार की दृष्टि से छोटे हैं, किन्तु मानव के मन-मस्तिष्क को प्रभावित करने एव जीवन को नया मोड देने मे ये अणु से भी कम शक्तिशाली नही हैं। ये मानव मन पर जादू-सा असर करने वाले हैं।

छपाई-सफाई, आकार-प्रकार तथा कलापूर्ण आवरणपृष्ठ अत्यधिक आकर्षक है।

—मुनि समदर्शी

ऐसी सुन्दर प्रभावोत्पादक कृति के लिए कवि को हृदय की गहराई से बधाई।

— महेन्द्र मुनि 'कमल'

सुबह के भूले

—लेखक गणेश मुनि शास्त्री साहित्यरत्न
—सम्पादक : जीतमल सकलेचा एम० ए०
— प्रकाशक : अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर
—मूल्य सात रुपये

पुस्तक की भाषा-शैली प्रवाह पूर्ण और प्रभावशाली है। "रसात्मकम् वाक्य काव्य" की अनुभूति रचना को पढते समय क्षण-क्षण होती रहती है। शब्दो का सुन्दर सयोजन, वाक्यो का सुगठित स्वरूप और अभिव्यक्ति की स्वच्छता रचनाकार की मौलिक शिल्प-चेतना का प्रत्यक्ष उदाहरण है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत उपक्रम जैन-सत-काव्य परम्परा का बेजोड रत्न साबित होगा और आधुनिक युग के यान्त्रिक मानव-समाज को आध्यात्मिक शान्ति का सुन्दर उपहार देगा। मुनि जी लालित्यपूर्ण साहित्य-सर्जना के लिए बधाई के पात्र हैं।

—डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी
प्राध्यापक आर के तलरेजा कालेज
उल्हास नगर— ३ [महा०]

श्री गणेश मुनि जी जैन समाज के चिन्तनशील कवि और विद्वान गवेषक सन्त हैं। 'अहिंसा की बोलती मीनारें', 'इन्द्रभूति गौतम एक अनुशीलन' आदि कृतियो मे उनका गवेषक पण्डित रूप प्रकट हुआ है। प्रस्तुत कृति 'सुबह के भूले' में उनका सरस कवि-रूप उभर कर सामने आया है। .... सकलन की सभी कवितायें कथा की अलगनी पर टिकी हुई हैं। उनमें वर्णनो की चित्रोपम छटा और भावो की रगीली मर्मस्पर्शिता है। कथा-प्रेमियो और कविता प्रेमियो के लिए यह कृति परितोषकारी है।

मैं इस सुन्दर कविता-सकलन के लिए मुनि श्रीजी का सादर अभिनन्दन करता हूँ।

— डॉ० नरेन्द्र भानावत

प्राध्यापक—हिन्दी विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय

श्री गणेश मुनि जी शास्त्री जैन-जगत के एक उदीयमान सुयोग्य लेखक व सरस कवि हैं।

"आधुनिक विज्ञान और अहिंसा", "अहिंसा की बोलती मीनारें" व "इन्द्रभूति गौतम एक अनुशीलन" आदि कलाकृतियाँ मुनिजी की अतीव प्रशसनीय रही हैं। प्रस्तुत रचना भी मुनिजी की एक सुन्दरतम कलाकृति है। अन्य रचनाओ की तरह मुनिजी की यह रचना भी अतीव आदर पायेगी ऐसा मेरा विश्वास है।

इस रचना के लिए मेरा शतश अभिनन्दन है मुनिजी को।

—मधुकर मुनि

जीवन के अमृतकण

—लेखक गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

—सम्पादक श्रीचन्द सुराना, 'सरस'

—प्रकाशक अमर जैन साहित्य सस्थान, उदयपुर

—मूल्य दो रुपये पचास पैसे

"जीवन के अमृत कण" पुस्तक को पढकर मन आनन्दविभोर हो उठा, सचमुच एक-एक अमृत कण के रसास्वादन से जीवन में अपूर्व जागृति, चेतना और प्रेरणा की बाढ आ रही है।

—महासती उज्ज्वलकुमारी

"जीवन के अमृत कण" मानव मे रही हुई, अन्तरग अशान्ति को दूर हटाकर शान्ति प्रदान करने वाली एक सुन्दर कृति है। इस अमृत कणो के

खजाने मे से एक-एक अमृत कण निकाल कर मानव अध्यात्म शान्ति का अनुभव कर सकता है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक राजस्थान केसरी प० श्री पुष्कर मुनिजी म के सुशिष्य कविवर्य साहित्य सर्जक पण्डित मुनि श्री गणेश मुनि जी हैं। वे अनेक साधुवाद के पात्र हैं।

—प्रवर्तक विनय ऋषि

गीतों का मधुवन

—रचयिता गणेश मुनि शास्त्री

—प्रकाशक : अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर

—मूल्य एक रुपया

शब्दावलियाँ सरस सब,
शिक्षा और कमाल।
'गीतो का मधुवन' लखा,
गद् गद् 'चन्दनलाल'।
'मुनि गणेश' भारी, गुणी,
सरस्वती अवतार।
निशदिन ही जिनकी रहे,
झकृत गीत सितार।

—चन्दन मुनि [पजाबी]